आर्य भाषा और संस्कृति

रामकृष्ण शुक्ल

त्रिसत्य ब्रदर्स, पब्लिशर्स,

निवेदन

प्रस्तुत लेखमाला के उदय में हिन्दी-विच्छेद के वर्तमान आन्दोलनों का हाथ है। बुन्देलखंडी और ब्रज-भाषा के विच्छेद-प्रयत्न की तो थोड़ी-थोड़ी ही बात सुनी थी, परन्तु राजस्थानी को हिन्दी से अलग करने की चेष्टा ने विकट रूप धारण कर लिया। यदि भाषा-विच्छेद का यह प्रयत्न किन्ही सांस्कृतिक भित्तियों पर खड़ा किया गया होता तो भी मैं भारत की राष्ट्रीयता के नाते उसे पसन्द तो न करता; परन्तु मैं शायद उससे अधिक चंचल न होता और उसे विद्वानों की गवेषणा की वस्तु समझ कर विद्वानों के लिए ही छोड़ देता। पर मैंने देखा कि यद्यपि भाषा-विच्छेद के आन्दोलक अपनी युक्तियों में संस्कृति की बू रखते हैं, तथापि उनके आन्दोलन का मूलाधार सांस्कृतिक नहीं है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण मुझे तब मिला जब राजस्थानी को हिन्दी से पृथक् एक स्वतंत्र पाठ्य विषय के रूप में स्वीकार करने का एक प्रस्ताव राजपूताना-बोर्ड के सामने रक्खा गया और उस प्रस्ताव के समर्थन के लिए एकाध प्रमुख सज्जन द्वारा

यह कहा गया कि यदि राजस्थानी स्वतंत्र भाषा के रूप में अभी समुन्नत नहीं दीखती तो पहले उसे ऊँची परीक्षाओं के लिए स्वतंत्र विषय मान लिया जाए, फिर वह स्वतः सम्पन्न हो जाएगी। इस तर्क में जहाँ आन्दोलकों के उद्देश्य का पिशुन विद्यमान था वहीं राजस्थानी के भाषा-रूप अनस्तित्व का भी परोक्ष स्वीकार था। इस तर्क का यही मतलब निकलता है कि राजस्थानी को स्वतंत्र भाषा के रूप में पहले पाठ्य विषय बना दिया जाए, बाद में वह भाषा बनती रहेगी।

तब अवश्य मुझे बलात् प्रेरणा हुई कि मैं कुछ कहूँ। फरवरी १६४४ की राजपूताना बोर्ड की हिन्दी-कमेटी के सम्मिलन के बाद मैंने कुछ लिखने का विचार किया। मेरे सामने राजस्थानी, बुन्देलखंडी या ब्रजभाषा का प्रश्न न था, मेरे सामने प्रश्न था हिन्दी का; और हिन्दी के नाते मेरा दृष्टिकोण सांस्कृतिक ही था। मेरा पक्का विश्वास है कि भाषा का प्रश्न वस्तुतः संस्कृति का ही प्रश्न है और संस्कृति के सहारे वह एक राष्ट्रीय प्रश्न है। हिन्दी बोलनेवालों को आर्य संस्कृति के वर्तमान उत्तराधिकारी के रूप में देखते हुए मैंने विशाल आर्यता के मनोविकास

में उसकी संस्कृति के प्रसार के साथ उसके भाषा-व्यवहार की प्रगति के सम्बन्ध की जिज्ञासा को अपना लक्ष्य बनाया परन्तु फरवरी में मैं दो-तीन लेख ही लिख पाया। उसके बाद किसी अज्ञातनाम ग्रहव्याधि में फँस कर मैं पाँच-छै महीने के लिए चारपाई पर पड़ गया। इस लेखमाला के शेष लेख बाद में, पुनः स्वस्थ होने पर, लिखे गए।

इस प्रकार यह लेखमाला विचार और धारणा की किसी ऐककालिक धारावाहिकता में सम्पन्न न हो सकी और खंडशः लिखी जाने के कारण इसके अनेकांश जल्दी में भी लिखे गए हैं। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि प्राचीन सांस्कृतिक और साहित्यिक घटनाओं के तिथि-क्रम का निश्चय करने का मुझे अवकाश न मिल सका और प्रत्येक लेख में उतनी पूर्णता न आ सकी जितनी मैं चाहता था। तिथि-निर्णय की परम शुद्धता तो कदाचित् मेरे विषय के उद्देश्य से उतनी अधिक अपेक्षित न भी रही हो, परन्तु इच्छानुरूप पूर्णता सम्पन्न न कर सकने का मुझे कुछ खेद है।

ये लेख अपने प्रकार में एक दूसरे से स्वतंत्र हैं, परन्तु वे सब कथनीय की एकोद्दिष्टता से परस्पर-सम्बद्ध

हूँ। स्वतंत्रता की दृष्टि से इनमें किसी-किसी बात की पुनरुक्ति हो गई होगी। अनेक समयों पर लिखा जाना भी पुनरुक्ति का एक कारण हो सकता है। सबको लिख जाने के बाद मैं इन्हें पुनः पढ़ जाने और संशोधित कर सकने की सुविधा से वंचित रह गया।

तथापि मुझे इतना सन्तोष है कि भाषा और संस्कृति के दृष्टिकोण से कुछ साधु विचार-तथ्यों का संकेत मैं कदाचित् इस लेखमाला द्वार-विद्वानों की विचारणा के लिए उपस्थित कर सका हूँ।

रामकृष्ण शुक्ल

लेख-सूची

भाषातत्व

भाषा मनुष्य का एक बहुत आवश्यक गुण है। भाषा मनुष्य का धन है। भाषा के बिना मनुष्य मिट्टी का पुतला है जो समाज और संसार के किसी विशेष काम का नहीं। भाषा मनुष्य की मनुष्यता का ही एक रूप है। यदि मनुष्य-जाति किसी कारण से अपनी भाषा को भूल जाए तो संसार के तमाम काम एकदम बन्द हो जाएँ और ईश्वर की मानव सृष्टि में एकदम उलटपुलट हो जाए।

पशुपक्षी भी बोलते हैं परन्तु उनकी बोली को हम भाषा नहीं कहते हैं। बालक की भी शुरू-शुरू की बोली को, जो हँसने-रोने की कुछ ध्वनियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती, हम भाषा नहीं कहते। कोई मनुष्य यह नहीं चाहेगा कि जिस प्रकार की भाषा मनुष्य-समाज में बोली जाती है उसे छोड़कर वह पशुओं आदि की सी बोली बोलने लगे। भाषा-विहीन व्यक्ति प्राणिमात्र तो कहलाता है, परन्तु उस के मनुष्यत्व का समुचित विकास भाषा के बिना सम्भव नहीं। मनुष्यजीवन का विकास मनुष्य-जीवन के अनुभव और उनके द्वारा प्राप्त सिद्धान्तों से ही होता है। अनुभव

किसी न किसी रूप में अनुकरण द्वारा दूसरों के सामने चित्रित करता है। गूँगे आदमी को कुछ समझाने की चेष्टा करते हुए कभी देखा है? किस प्रकार वह अपने हाथपैर तथा शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों-द्वारा अपने बोधनीय विषय का यथासाध्य चित्र उपस्थित करने की चेष्टा करता है।

अनुकरण की प्रवृत्ति तो सहजबुद्धिजन्य (instin-ctive) है, अत: अत्यन्त स्वाभाविक होने के नाते वह कुछ पशुओं में भी देखी जाती है; परन्तु उसका उपयोग विवेक का कार्य है, जो विशेष रूप से मनुष्य में ही देखने में आता है। गूँगा मनुष्य जब किसी वस्तु या अवस्था का अपने अंगों की चेष्टा द्वारा चित्रण करने का प्रयत्न करता है तो वह अपनी अनुकरणवृत्ति का उपयोग करता है। चित्रकला अनुकरण का ही तो एक समुन्नत रूप है। चित्रकला के उदाहरण से हमें इस बात का पता चलता है कि केवल स्थूल प्रकार की शारीरिक आवश्यकताओं के लिए ही नहीं, बल्कि मानवात्मा की सूक्ष्मतम भावप्रक्रिया का आनन्द-सन्देश वहन करने में भी, उपयोगी सिद्ध होनेवाले अनुकरण की सामर्थ्य कितनी ज़बर्दस्त है। उपयोगिता में प्रकृत यह अनुकरणवृत्ति विवेकवृत्ति के क्रमिक मार्गप्रदर्शन

को स्वीकार करती हुई धीरे-धीरे स्वयं एक कला और विज्ञान का स्वरूप बन जाती है और उसकी इस कलात्मक-विज्ञानात्मक विकसिति में ही जैसे हमारे सम्पूर्ण भाषा-विकास का भी इतिहास समाविष्ट है।

भाषा के उदय में अनुकरण की आदिम प्रक्रिया को भाषाविज्ञान विद्वान कतिपय प्राकृतिक उदाहरणों-द्वारा सिद्ध करते हैं। कहा जाता है कि किसी समय में, अब से हज़ारों लाखों वर्ष पहले, मनुष्य भी पशुओं की तरह बोला करता था। परन्तु ईश्वर ने उसे बुद्धि दी थी और उसकी बोलने की इन्द्रियों में कुछ विशेषता थी। इसलिए नई-नई आवश्यकताओं के पड़ने पर उसने उन आवश्यकताओं को प्रकट करने के लिए धीरे-धीरे अपनी बोली को काम के लायक बना लिया। एक पक्षी 'का-का' करता था। मनुष्य ने अपनी बुद्धि के बल से उसकी बोली के अनुकरण पर उस पक्षी का नाम 'काक' रख दिया। तब धीरे-धीरे प्रयोग और अभ्यास के कारण 'काक' शब्द से सब लोग 'कौवा' समझने लगे और जिस किसी को उस पक्षी का बोध कराना होता वह बड़ी आसानी से 'काक' कह कर उसका बोध करा देता। हवा में पेड़ पर से पत्ता गिरा जिससे 'पत्' जैसी आवाज़ हुई। मनुष्य उस 'पत्'

आवाज के अनुकरण से ही 'गिरने' का भाव प्रकट करने लगा, अर्थात् जब जब उसे 'गिरने' का भाव प्रकट करना होता तब तब वह 'पत्' कह देता। फिर संसर्गबल से 'पत्र' का भी नामकरण होगया, अर्थात् शुरू-शुरू के प्राकृतिक जीवन में जो वस्तु सबसे अधिक गिरती हुई देखी गई वही पतनकर्म की स्वाभाविक अधिकारिणी होकर 'पत्' में एक रेफ की विशेषता को लेकर अपने भाषारूप में हमारे सामने आई। संसर्ग और अनुकरण और संसर्ग की इस पारस्परिक प्रतिक्रिया में तदनन्तर हमने 'पत्र' शब्द को व्याप्ति प्रदान की, जिसके परिणाम में हमें 'भोजपत्र' (अनेक बातों में पत्ते से मिलता-जुलता किसी वृक्ष का ही एक अंगविशेष), 'पत्र' (चिट्ठी, जोकि प्रारम्भ में भोजपत्र पर लिखी गई थी), 'पत्र' (कागज, भोजपत्र का काम करने के लिए एक नया पदार्थ-विशेष) और 'समाचार पत्र' जैसे शब्द प्राप्त हुए। दूसरी ओर 'गिरना' कर्म की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के बोध के लिए उन अवस्थाओं तथा 'पत्' शब्द के संसर्ग से 'पतत्', 'पतित', 'पतति' 'अपतत्' आदि शब्दों का स्वरूप भी बन गया। सारांश यह कि इसी प्रकार समय-समय पर अपनी विवेकबुद्धि के द्वारा संसर्ग और अनुकरण की प्रक्रियाओं का उपयोग कर-

कर के तथा अपनी जीभ को इधर उधर घुमा-फिरा कर मनुष्य ने अपनी नई पुरानी आवश्यकताओं के लिए नए-नए शब्द बनाए और धीरे-धीरे अपनी बोली को भाषा के रूप में विकसित किया।

भाषा के अनुकरण-मूल में संसर्ग का उत्तरदायित्व जब भाषा के प्रयोगों को व्यापक बनाने लगता है तो उसमें सामाजिकता का आरोप होजाता है। बोली का आचरण जब भाषा में व्यवहार का रूप धारण करता है तो वह पारस्परिकता, सामाजिकता, पर निर्भर रहने लगता है और इस भाँति व्यक्तिगत आचरण की स्थिति से बढ़ कर वह समाज का आचरण बनने लगता है। भाषा की व्यापकता के दो रूप हैं। एक तो यह कि वह अधिक से अधिक व्यक्तियों की समझ और उपयोग-प्रयोग की वस्तु हो, जिसका, दूसरे शब्दों में, यह अर्थ है कि वह अधिक से अधिक व्यक्तियों की आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाली हो। उसका दूसरा स्वरूप इस पहले स्वरूप के ही उपलक्ष्य में, भाषा की असमर्थता के कारण उत्पन्न होता है अर्थात् भाषा केवल लोकव्यापिनी ही नहीं, विषयव्यापिनी भी हो। लोकव्याप्यता के हेतु से उसमें लोगों की प्रत्येक आवश्यकता के लिए शब्द और प्रयोग होने चाहिएँ।

परन्तु यह असम्भव है। इसलिए अपनी लोकव्याप्यता की सिद्धि के लिए उसे विषयव्याप्य बनने की ज़रूरत पड़ती है।

लोकव्यापकता की असम्भवता तो इस बात से सिद्ध है कि सामाजिक मनुष्य की छोटी-बड़ी समस्त आवश्यकताओं की संख्या गिनाना सहस्रमुखवाले-जैसों तक की सामर्थ्य का काम नहीं है। एक 'पत्' धर्म की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से पैदा होनेवाली आवश्यकताओं का अन्दाज़ा इस बात से किया जा सकता है कि संस्कृत के दस लकारों में उसके नब्बे रूपों की कल्पना है, और यह संख्या कृदन्त और तद्धित और समासों आदि के विस्तार के साथ न मालूम और कितनी बढ़ जाती है।

यह प्रकृति में होनेवाली केवल एक क्रिया की बात है। प्रकृति में होनेवाली समस्त क्रियाओं की गिनती किसने की है? फिर, इन असंख्य क्रियाओं से सम्बद्ध पदार्थों और दशाओं की गिनती करनेवाला कौन पैदा हुआ है? इससे भी आगे बढ़ कर संश्लिष्ट क्रियाओं पर दृष्टि जाती है जो संसर्गी अवस्थाओं के संकर से पैदा होती हैं। 'आना-जाना' में 'आना' कर्म की 'जाना' कर्म के द्वारा विशेषतापन्न होनेवाली संकरावस्था का तथा इसी भाँति, 'जाना' कर्म की 'आना'-विशिष्ट अवस्था का निर्देश है।

इसी प्रकार 'पतनशील' शब्द में भी देखा जा सकता है। 'शील' का अर्थ है 'स्वभाव'। शील या स्वभाव से एक गुणस्वरूपिणी अवस्थाविशेष का बोध होता है। जहाँ इस अवस्था का 'पतन'—कर्म से मेल होता है वहाँ हम 'पतनशील' शब्द का उच्चारण करते हैं, जिसमें क्रियाओं की अवस्थाओं के अतिरिक्त हमें क्रिया (कर्म) गुण और क्रिया व गुण के आधार का भी संकर मिलता है।

इन संकरावस्थाओं के समाधान के लिए भाषा में समस्त (समासयुक्त) पदों और वाक्यों का विन्यास हुआ। परन्तु जब अवस्थाएँ संख्यातीत हैं और मनुष्य की स्मरणशक्ति की कहीं न कहीं कोई सीमा है तो यह असम्भव है कि प्रत्येक अवस्था को सूचित करने के लिये भाषा में अलग-अलग शब्द हो सकें। यही भाषा की असामर्थ्य है। और यह असामर्थ्य इस बात को देखते हुए और भी बढ़ जाती है कि अवस्थाएँ और आवश्यकताएँ स्थिर नहीं हैं, वे समय और परिस्थिति के साथ बदलती रहती हैं। जैसा कि एच० जी० वेल्स ने कहा है, मनुष्य के विचारों की स्पर्धा में भाषा सदा पिछड़ी रहती है— जितनी तेज़ी से विचार आगे बढ़ते हैं भाषा उतनी तेज़ी से कदापि नहीं बढ़ सकती, क्यों कि विचार तो प्रति समय

विकसनशील हैं और भाषा बहुत-कुछ स्थिर होती है। उसे स्थिर होना ही पड़ता है। तथापि, अपनी मंथर गति में भी भाषा विचारों के विकास का यथाशक्ति साथ देती हुई अपना भी थोड़ा-बहुत विकास करती ही रहती है। वह अपने प्रयोगों में सांकेतिकता तथा अधिकसे अधिक व्यंजकता लेकर अपनी असामर्थ्य को दूर करने तथा अपनी व्यापकता को कायम रखने की चेष्टा करती है। संसर्गशक्ति इस कार्य में उसकी सहायक होती है। हमने देखा है कि एक ही शब्द 'पत्र' संसर्गवश कितने विचारों की अभिव्यक्ति करने में समर्थ है। अनेक अवस्थाओं में संसर्ग के साथ सादृश्य (analogy) का भी योग हो जाता है जो प्रयोगों के रूप-निर्माण में तो काम करता ही है, विचारों का वर्गीकरण और समीकरण में भी जिसका बड़ा हाथ है। अपने इस दूसरे कार्य में सादृश्य भी भाषा की व्यंजकता बढ़ाने में उपादेय होता है। 'आ गिरा' में 'आना' कर्म सादृश्य-संसर्ग से 'गिरना' कर्म के साथ अपना संश्लेष करता हुआ दिखाई देता है। यही सादृश्य ज़रा और आगे बढ़ कर संश्लेष-वचन को भी अनावश्यक बनाता हुआ 'आना' की बहुव्यंजकता को स्वतंत्र कर देता है। 'मैं अभी बाज़ार से आया हूँ', 'तुम चलो, मैं आया', 'सौदा आया',

'वर्षा आई', 'मनमें यह विचार आया' आदि उदाहरणों में 'आना' क्रिया, वक्तोद्दिश्य संचलन-कर्म के सादृश्य पर विभिन्न अवस्थाओं की अभिव्यक्ति स्वतंत्र रूप से कर रही है। इस प्रकार के प्रयोगों द्वारा भाषा अपने शब्द-दारिद्रय की अवहेलना करती हुई अपने को बराबर समर्थ और व्यापक, अधिक से अधिक भाव-व्यंजक, बनाए रखने की चेष्टा करती है। संस्कृति के अधिक विकास के साथ तो उसकी यही प्रवृत्ति उसका गौरव बन जाती है। भाषा में अलंकारों की व्याप्ति उसकी इसी सामर्थ्य-प्रवृत्ति की सूचक है।

इतना ही नहीं, उपयोग और व्यापकता की सापेक्षता में वह जहाँ नई व्यापिनी आवश्यकताओं के लिए कुछ नए प्रयोगों को स्वीकृत करती है वहीं वह पुरानी और बहु-परित्यक्त आवश्यकताओं के बोधक अपने बहुत से शब्द-भार को हलका भी करती जाती है। यह भी उसका एक प्रगतिनिर्देशक गुण ही है, अवगुण नहीं। कुछ तो अपने बोलनेवालों के जीवन-विस्तार के कारण, और कुछ दूसरी-दूसरी संस्कृतियों के साथ संयोग होने से, नई-नई आवश्य-कताओं का आगमन या सृजन हुआ करता है और उनकी नवीनता में बहुत-सी पिछली आवश्यकताएँ जीर्ण और

प्रयोज्य हो जाती हैं। इन नई-नई आवश्यकताओं के लिए सादृश्य और संसर्ग के बल पर या तो नए शब्द बना लिए जाते हैं या दूसरी संयुक्त संस्कृतियों से ग्रहण कर लिए जाते हैं, या फिर भाषा की अभिव्यंजन-सामर्थ्य द्वारा उसके चले आते हुए प्रयोगों की ही नई-नई आवश्यकताओं के भी अभिव्यंजन में व्याप्ति होने लगती है। और, जो भाषा जितनी ही अधिक अभिव्यंजनशक्ति रखती है, जिसमें नई-नई आवश्यकताओं को जितना ही अधिक अपने निजी कलेवर में समा-लेने की शक्ति होती है, वह भाषा उतनी ही अधिक समुन्नत और संस्कृत समझी जाती है।

नए-नए प्रयोगों के स्वीकार, पुराने प्रयोगों के त्याजन और नए-पुराने प्रयोगों की वर्तमान सांकेतिकता व अभिव्यंजकता के कारण—(जिससे भाषा की समस्त-व्यस्त पदावली, तद्धित-कृदन्तादिक-वाग्व्यवहार तथा लघु-दीर्घ वाक्य-विन्यास आदि द्वारा तरह-तरह की पद्धतियाँ बन जाती हैं)-किसी भाषा के मौलिक तथा विकसित रूपों में काफी अन्तर पड़ जाता है। जीवन-विस्तार के साथ-साथ देश-विस्तार भी प्रायः होता जाता है। इससे काला-न्तर में किसी भाषा के बोलनेवाले एक दूसरे से, पारस्प-

रिक आदान-प्रदान के अभाव और यातायात के साधनों की कमी आदि के कारण, बहुत विच्छिन्न हो जाते हैं। जब ऐसा होता है तो अलग-अलग स्थानों के अलग-अलग प्रभावों, तथा पारस्परिक व्यवहार और विचारधारा की एक-सूत्रता के विलोपन, से उन लोगों की भाषा की भी अलग-अलग कई धाराएँ निकल-चलती हैं और वे अपना-अपना स्वतंत्र विकास करने लगती हैं। अलग-अलग स्थानों के प्रभावों में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं जीवननिर्वाह-सम्बन्धी परिस्थितियों के साथ-साथ भौगोलिक अवस्थाओं का भी महत्वपूर्ण स्थान है जो वागिन्द्रियों को प्रभावित कर बोलनेवालों की मौलिक ध्वनियों में भी परिवर्तन कर देती हैं। शब्दोच्चार में परिवर्तन तो स्थान-परिवर्तन न होने पर भी, मलस्थान में भी, धीरे-धीरे हो जाते हैं, जिसके मूल में मनुष्य की सुकरता की वांछा रहती है। यह स्वभाव है कि किसी भी काम को हम कम-से-कम दिक्कत के साथ करना चाहेंगे। अतः यदि अपने भावप्रकाश को अक्षुण्ण रखते हुए हम किसी जटिल या क्लिष्ट उच्चारणवाली ध्वनि को सरल बना पाते हैं तो स्वभावतः ही हम उसे सरल बना लेते हैं। 'पंच' का 'पाँच' या 'दश' का 'दस' इसी प्रकार हो जाता है। ध्वनि या उच्चारण में ही नहीं,

अपने अन्य प्रयोगों के लिए भी हम इस सुकरता को खोजते हैं। संस्कृत के तद्धित, कृदन्त और समस्त प्रयोग, अपनी प्रारम्भिक अवस्था में, इसी सुकरता-प्रवृत्ति के द्योतक हैं। बाद में वे संस्कृति में समाविष्ट होकर भाषा का गौरव और विलास बन जाते हैं।

भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भाषा की भिन्न-भिन्न प्रकार से होनेवाली परिणतियों को देख कर मनुष्य के मानसिक विकास का अनुमान होता है। मनुष्य की आविष्कार-बुद्धि भाषा के प्रयोग-बाहुल्य (शब्दकोष, विभक्ति, धातु, लकार आदि) में देखने में आती है। प्रयोग-बाहुल्य और उसकी समीचीनता में मनुष्य की विश्लेषण-बुद्धि भी दर्शनीय है। भाषा की व्यापिनी व्यंजकता तथा पद्धति में सामंजस्य-विवेक का प्रमाण मिलता है। दूसरी ओर, शब्दों और प्रयोगों का बहु-वैविध्य, उसमें नई-नई अवस्थाओं एवं तत्वों का समावेश, हमें यह बतलाता है कि अमुक भाषा के बोलनेवालों की ग्राहिका शक्ति कैसी और कितनी थी, वे कहाँ तक और किस रूप में अपना जीवन-विस्तार करने में समर्थ थे।

जीवन-विस्तार का अर्थ है सृष्टि की अधिकाधिक वस्तुओं और अवस्थाओं को अपने लिए उपयोगी बनाना,

सृष्ट जगत् का अधिक से अधिक अंश में अपने में आरोप करना। यही प्रक्रिया किसी स्थिति को प्राप्त होकर सभ्यता, संस्कृति, का स्वरूप बन जाती है। सृष्ट जगत् केवल पदार्थों में ही नहीं, बल्कि उनके गुण और स्वभाव में भी देखा जाता है। देहधारियों के संयोग से इस जगत् के दो रूप, भौतिक और मानसिक अथवा आध्यात्मिक, हो जाते हैं जो सृष्टि-कर्म में अपना सहयोग-सामंजस्य बनाए हुए हैं। भौतिक जगत् का कुछ आरोप तो प्रकृति स्वयं ही करा देती है; परन्तु जीवन-विस्तार में हम इस भौतिक जगत् की गुण-स्वभाव-रूपिणी विशालता, भूतप्रकृति और अध्यात्मप्रकृति के सामंजस्य, का आरोप ही विशेष रूप से देखना चाहते हैं। अपनी इसी प्रक्रिया में किसी स्थिति को प्राप्त कर हमारा जीवन-विस्तार सभ्यता, संस्कृति, का रूप बन जाता है।

बोली और भाषा के भेद का उदाहरण इस बात का सब से अच्छा प्रमाण देता है। हमें मालूम है कि बोलते पशु भी हैं, परन्तु वे कहते या 'भाषते' नहीं हैं। इसीलिए उनकी बोली 'भाषा' नहीं बनती। पशु अपनी बोली द्वारा अपनी दुःख-सुख की वृत्तियों का, या फिर अपनी अत्यन्त प्राकृतिक आवश्यकताओं का, उद्गारमात्र करते

हैं। 'कहना' या भाषा में हम इस उद्‍गारमात्र से आगे बढ़कर विचार और विवेक की क्रिया देखते हैं। मनुष्य-समाज में भी बोली और भाषा का यही भेद, अनुपातक्रम से, देखने में आता है। जो लोग अपने जीवन-विस्तार में अपने दैनिक दुःख-सुख की अनुभूति और शरीरधारण की नित्य आवश्यकताओं से आगे नहीं बढ़ पाए हैं, जो अपने मानसिक विकास में विचार-योग तक नहीं पहुँच पाए हैं, उनकी बोलचाल भी कुछ इने-गिने बँधे-बंधाए प्रयोगों में ही कुंठित रह गई है और वे अभी बोली बोलने की ही अवस्था में हैं। इसके विपरीत, जिन्होंने सृष्ट जगत् के साथ अपना जितना अधिक विकास किया है, केवल शारीरिक आवश्यकताओं और अनुभूतियों के उद्‍गारमात्र में ही रुद्ध न रह कर जो अपने भीतर विचारतत्त्व को जितना ही अधिक विकसित करने में समर्थ हुए हैं, वे उतने ही अधिक सभ्य और संस्कृत बन सके हैं और उतना ही अधिक उनकी बोली में कहने या 'भाषने' के ढँग का समुन्नयन हुआ है।

जिस प्रकार हमारी सामान्य अनुभूतियों और दैनिक आवश्यकताओं के आधार से ही हमारे जीवन-विस्तार के रूप का विकास होता है, उसी प्रकार हमारी नैमित्तिक

बोली के आधार पर हमारी भाषा भी विकसित होती है। और जिस तरह हमारे जीवन-विस्तार के साथ हमारी अनुभूतियों और नैमित्तिक आवश्यकताओं का लोप नहीं हो जाता उसी तरह किसी समाज में भाषा की अभिवृद्धि के साथ बोली या बोलियों का भी अस्तित्व रहता है। बात यह है कि किसी जाति या समाज का प्रत्येक व्यक्ति, किसी देश का प्रत्येक टुकड़ा, समान अनुपात में विकसनशील नहीं हुआ करता। देश के जिन टुकड़ों में जीवन-विस्तार का स्वरूप अधिक पुरोगामी हो जाता है वे नगर और राजधानियाँ बन जाते हैं, जिनमें ऐसा नहीं होता वे देहात रह जाते हैं। नैमित्तिक आवश्यकताओं और तदुद्दिष्ट वा-व्यवहार का दायरा भी स्वभावतः संकीर्ण, रात-दिन पास में उठने-बैठनेवाले, व्यक्तियों का ही रहता है। इसीलिए भाषाविज्ञान के शास्त्रियों का कहना है कि बोलियों का रूप प्रति दस या बीस मील पर बदलता जाता है। परन्तु देहात या बोलियाँ अपने जीवन के लिए नगर और नागरिक भाषा तथा संस्कृति पर निर्भर रहते हैं, जिस प्रकार कि नगर अपनी नैमित्तिक आवश्यकता-पूर्ति के लिए देहात पर निर्भर रहते हैं। इससे देश या समाज और उसकी संस्कृति तथा भाषा की एकसूत्रता क़ायम रहती है और हम

देहात तथा बोलियों की संकीर्णता के होते हुए भी, समूह-धारणा के औचित्य से यह कहते हैं कि अमुक देश या जाति सभ्य तथा संस्कृत है।

कभी-कभी किसी देश या जाति के कोई-कोई अंग उसकी संस्कृति का साथ न दे सकने के कारण उससे अत्यन्त विच्छिन्न हो जाते हैं। तब वे परिस्थितियों के अनुसार अपना स्वतंत्र विकास करने लगते हैं। जाति और जातीय संस्कृति के दृष्टिकोण से यह बात विशेष सौभाग्य की नहीं है। इनमें से जिन अंगों को अनुकूल परिस्थितियाँ मिलती हैं या जो अधिक समर्थ होते हैं वे तो अपनी स्वतंत्र प्रतिष्ठा में चिरस्थायी बन जाते हैं; परन्तु दुर्बल अंग शीघ्र ही ह्रास को प्राप्त हो जाते हैं। आदिम आर्य-संस्कृति से अलग होकर जर्मन एक स्वतंत्र और प्रबल चिरस्थायी जाति एवं भाषा बन गई, परंतु प्रारम्भिक ईरानी (जेन्द) संस्कृति अपने को थोड़े दिन भी न टिका सकी। भारतीय आर्यों की संस्कृति जब मुसलमानों के आगमन के बाद छिन्न-भिन्न हुई तो बंग और गुर्जर और महाराष्ट्र आदि की स्वतंत्र संस्कृतियाँ बनने लगी।

संस्कृतियों के एकसूत्र संगठित रूप या उनके विच्छेदों की गवाही उनकी भाषाएँ देती हैं। जर्मन भाषा,

ज़ेन्द भाषा और भारत में बंगला, गुजराती तथा महाराष्ट्री भाषाओं के उत्थान-पतन में मूल आर्य और आर्य-भारतीय संस्कृति तथा उसके टुकड़ों के उत्थान-पतन का इतिहास विद्यमान है। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि जातीय संस्कृति से विच्छेद होने पर टुकड़ी संस्कृतियों के विलास और विकास का दायरा बहुत संकीर्ण हो जाता है। दायरे की संकीर्णता से उनकी समूह-शक्ति भी बहुत कम हो जाती है। परिणामस्वरूप अधिकतर ऐसा होता है कि विच्छिन्न होनेवाली ये संस्कृतियाँ और भाषाएँ कुछ समय तक अपना विलास करने के बाद किसी विशालतर सांस्कृतिक आन्दोलन के सामने ठहरने में असमर्थ होकर पुनः असंस्कृति तथा बोलियों के रूप में विलीन भी हो जाती हैं। जेन्द-संस्कृति और ज़ेन्द-भाषा का उदाहरण हमारे सामने है। भारतीय आर्य-संस्कृति की भाषाओं में किसी समय ब्रज-भाषा का दबदबा था, और वह काफी समय तक रहा। अपने समय के जीवनोपचार—उसी को उस समय की संस्कृति कहेंगे-का प्रतिनिधित्व करने में ब्रजभाषा अत्यन्त सम्मानास्पद होगई थी। परन्तु उस जीवनोपचार में, फलतः उसकी भाषा में भी, जीवन-विस्तार का रूप अत्यन्त कुंठित था। अतः अँग्रेज़ों की प्रतिष्ठा के बाद

जीवन-विस्तार का क्षेत्र खुलने पर ब्रज भाषा में धीरे-धीरे ऐसी पस्ती आई कि आज वह भाषा ही नहीं रही, बोली-मात्र रह गई—इतनी पस्ती आई कि आज उसके पुराने गौरव में बट्टा लग रहा है। कहनेवालों ने उसे जनानी भाषा तक कह डाला। और सचमुच यदि कोई समर्थक कहे कि ब्रजभाषा ने शृंगार-रस की रति के अनुपमेय गुलछर्रे उड़ाए और उड़वाए हैं तो आज के दिन कौन इस समर्थन की सांस्कृतिक गरिमा पर अपने को निछावर कर देगा। इसी भाँति अवधी और बुन्देली और मारवाड़ी—जिसे मारवाड़ के कुछ सज्जन इन दिनों 'राजस्थानी' का लम्बा-चौड़ा नाम देना चाह रहे हैं—का किसी समय का भाषामाहात्म्य आज कभी का बोली-लघिमा में अवतीर्ण हो चुका है; क्योंकि इन बोलियों के बोलनेवालों की प्रान्तीय जातीयता में आत्म-निबन्धी जीवन-विस्तार का रूप नहीं है। अपने मौलिक स्वभाव में वे जिस संस्कृति का अङ्ग थीं उसी का अंग बने रहने की उसी मौलिक प्रवृत्ति में पुनः लौट आना उनके लिए मजबूरी की बात थी।

बोलियों और भाषाओं के स्वभाव और उनके लौट-पलट, उनके वर्ग अथवा कुटुम्ब के साथ उनके तरह-तरह के परिस्थितिजन्य आचरण आदि की कथा बड़ी

मनोरंजक है। आजकल संसार में बहुत-सी भाषाएँ देखने में आती हैं। उनकी तुलना द्वारा भाषावैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि कितनी ही भाषाएँ एक दूसरी से किसी न किसी अंश में मिलती-जुलती हैं और वे समयचक्र के प्रभाव से किसी एक ही आदिम भाषा से निकली हुई अलग-अलग धाराएँ हैं। विद्वान् लोग इनकी तुलना के आधार पर उनके बोलनेवालों की मूल संस्कृति तथा उसके विकास और विच्छेद की गवेषणा करते हैं। आजकल भाषाविज्ञान मनुष्यजाति के इतिहास की खोज का एक महत्वपूर्ण उपकरण बन गया है। भाषा का इतिहास मनुष्य और मनुष्यता के विकास अथवा ह्रास का इतिहास है।

संस्कृति और भाषा

'संस्कृति' शब्द के अभिप्राय में हम मनुष्य या मनुष्यों के लोकव्यवहार-सम्बन्धी आचरण, पारस्परिक आहार-व्यवहार, आदान-प्रदान विचार-विनिमय आदि की भावनाओं का ग्रहण करते हैं। इन सब में पारस्परिकता का सम्बन्ध आवश्यक शर्त है। संस्कृति और सभ्यता का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है--इतना घनिष्ठ कि दोनों शब्दों के पर्यायवाची होने का भ्रम सहज ही हो जाता है। जो संस्कृत है वही सभ्य भी है, सभा में बैठने योग्य है; जिसे हम सभ्य नहीं समझते उसकी संस्कृति में हमें कोई भारी त्रुटि दिखलाई देती है। उसमें पारस्परिकता का संस्कार भली-भाँति विकसित नहीं हुआ है।

पारस्परिकता की योग्यता वह ऊँची समझी जाएगी जिसके व्यापार-क्षेत्र में विशालता होगी, विस्तार होगा। अपने स्त्री, पुत्र या घर के अन्य व्यक्तियों से तो सब कोई जैसा-तैसा व्यवहार कर ही लेते हैं- यद्यपि उसमें भी योग्यता की ज़रूरत है- पर घर की परिधि के बाहर सब

लोग समान रूप से व्यवहार-कुशल नहीं देखे जाते। तब, जो व्यक्ति जितने ही अधिक और भिन्न-भिन्न प्रकार के रुचि-स्वभाववाले लोगों से ठीक-ठीक मिल सकने में समर्थ हैं वही संस्कृत है।

जिस प्रकार व्यक्ति के संस्कृत या असंस्कृत होने की कल्पना की जा सकती है उसी प्रकार व्यक्ति-समूह, समाज के संस्कृत या असंस्कृत होने की कल्पना भी स्वाभाविक हो जाती है। पारस्परिकता की दृष्टि से, संसार में कभी एक ही व्यक्ति संस्कृत रह पाए, यह नही हो सकता। पारस्परिकता का उदय ही सभ्यता का, संस्कृति का भी, उदय है। पारस्परिकता में एकाधिक का भाव है। एकाधिक व्यक्ति अपने—अपने अलग व्यक्तित्वों में संस्कृत या सभ्य रह सकें, सो बात भी नहीं है; क्योंकि पारस्परिकता में सामंजस्य का, सामाजिकता—वही जो सभ्यता है—का, भी भाव है।

पारस्परिकता, सामाजिकता, सभ्यता या संस्कृति की परिधिरेखा उतनी ही बड़ी है जितनी कि मानवता की। किसी संकीर्ण समाज में सभ्य समझा जानेवाला व्यक्ति यदि शेष मानवता के साथ असभ्य व्यवहार करता है तो विशाल दृष्टि में वह असभ्य कहलाता है। एक मदमत्त अंग्रेज अफसर को हिन्दुस्तानियों के, या उसके मातहतों

के ही, ठोकर मारते हुए देख कर आप उसको क्या कहेंगे? और, इसके विपरीत, सभ्यता की ही दृष्टि से आप ईसा-मसीह को क्या कहेंगे, जिसके समक्ष समाजों या जातियों का कोई भेद ही नहीं था। सर्वश्रेष्ठ संस्कृति के लिए देश, प्रान्त, जाति आदि की सीमाएँ उत्तरोत्तर दूर होती जाती है।

देश और जाति की सीमाओं की भाँति समय की सीमाओं को भी सर्वश्रेष्ठ संस्कृति पीछे छोड़ देती है। ईसा मसीह आज भी सभ्य है, इसीलिए पूजनीय भी है; परन्तु तैमूर या नादिरशाह, महमूद गजनवी या औरंगजेब, अपने समय में अपने अनुयायि समाज के पूजनीय होते हुए भी, सुचिर विश्वपूजा में किस प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं? इसी भाँति, हम देखते है कि पुरानी संस्कृतियों में आर्य संस्कृति आज भी अपनी सत्ता को किसी-न-किसी रूप में कायम रखती है, परन्तु प्राचीन रोमन संस्कृति इस समय कहाँ दिखाई देती है।

दो व्यक्तियों की पारस्परिकता से लगा कर समस्त मानव-समुदाय की पारस्परिकता में विस्तीर्ण होनेवाली संस्कृति हमें छोटे-बड़े अनेक लक्षणों में अपनी उपकरण-सामग्री जुटाती दिखाई देगी। विशिष्ट वेश-भूषा, चाल-ढाल के ढंग, हँसने-बोलने-खाने-पीने-बैठने-उठने के तरीकों आदि कायिक साधनों द्वारा हमारी क्षुद्र समाजों में सम्मिलित

होने की योग्यता देखी जाती है। छोटे-छोटे समाजों के दृष्टिकोण से ये साधन ही जैसे सब से पहले सभ्यता की कसौटी समझे जाते हैं। उदाहरणार्थ, आजकल के पढ़े-लिखे सभ्य समाज या समाजों में कोट-पतलून या शेर-वानी या अन्य कोई--संक्षेप में. नागरिक ढँग के--स्वच्छ परिधान के बिना प्रवेश करना उपहास्य, असभ्य, है। परंतु देहातियों की गोष्ठी में यदि कोई देहाती अङ्गरेजी ठाठ-बाठ से कोट-पतलून-टाई आदि धारण कर के जाएगा तो वह या तो उपहसनीय बनेगा या सन्देह की दृष्टि से देखा जाएगा।

संस्कृति के कायिक साधन अपनी क्षुद्रता से संकीर्ण हैं, क्षणिकता-ग्रस्त हैं, और परिवर्तनीय हैं। सम्भव है, किन्हीं परिस्थितियों में वे अपनी दैशिक परिधि को बढा भी सकें, जैसे अँग्रेजी पोशाक और चाल-ढाल के अँग्रेजी ढॅग आजकल भारत में भी सभ्यता के उपचिन्ह बन गए हैं; परन्तु समय की व्याप्ति में उनका प्रसार नहीं है। क्षुद्रता से विशालता की ओर अग्रसर होनेवाली संस्कृति में विचारों और भावों का गौरव देखा जाता है। विचार और भाव ही समस्त मानवता के समान धर्म हैं जो किसी एक ही देश या क्षुद्र समाज अथवा एक ही समय में संकुचित

नहीं हो सकते। निस्सन्देह मायाविष्ट ब्रह्म की जीवसंज्ञा की भाँति भाव-विचार भी कभी संस्कृति के कायिक चिन्हों से आविष्ट होते हुए ऐकदेशीय या ऐककालिक से दृष्टिगोचर होते हैं। फिर भी, जीव की ही भाँति अपने क्षुद्र बन्धनों से मुक्त होकर वे व्यापकता में संचरित होने की क्षमता भी रखते देखे जाते हैं। साम्प्रदायिक या धार्मिक संस्कृतियों की विचार-परम्पराओं में हम इस क्षमता को अधिक स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। आर्य संस्कृति ही इसका सब से बड़ा प्रमाण है, जिसमें आदि से लेकर अब तक न मालूम कितने धर्मों और सम्प्रदायों का उदय और ह्रास और लय हो चुका है— लय हो चुका है, यानी अन्ततः वे आर्य संस्कृति की विशाल मानवीयता में ही पुनः घुल-मिल कर स्वयं विशालतर हो उठे हैं। सेमिटिक संस्कृति की मुस्लिम शाखा को ही देखिए जो भारतेतर देशों, विशेषतः तुर्की, में अपने प्राचीन क्षुद्र बन्धनों को तोड़ कर वर्तमान समय की विशालतर पाश्चात्य संस्कृति से अपना सम्बन्ध बढ़ाती जा रही है। तथापि जो विचार और भाव अपनी मौलिक पद्धति में ही विशाल मानवता का लक्ष्य रखते हैं वे ही श्रेष्ठतम संस्कृति के सूचक हैं क्योंकि वे सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं, उनमे सब देशों और सब युगों की सभा-

ओं में अपने मौलिक रूप में ही सम्मिलित होने की योग्यता है।

परन्तु वेशभूषा से लेकर विचारतत्व तक संस्कृति की जितनी भी निम्नोच्च सरणियाँ हैं वे सब स्वयं पंगु हैं और अपनी सार्थकता के संस्कृतिसाधनत्व के, लिए भाषा पर निर्भर हैं। अपने स्वतंत्र रूप में उनमें सभा बनाने की, व्यक्तियों का पारस्परिक सम्पर्क कराने की, सामर्थ्य नहीं है। विचार-संस्कृति तो बिना भाषा के नितान्त ही अकल्पनीय है; वेशभूषा और भोजनादिक के संस्कार भी भाषा के सहयोग बिना कहीं अग्रसर नहीं होते। साफ-सुथरा कोट-पतलून पहन कर ही, बिना बोले, किसी से मिलने का उपक्रम समझ में आने की बात नहीं। वस्तुतः, देखा जाए तो, भाषा ही इन साधनों का भी निर्माण करती है— उन्हें रूप, आकार और विस्तार देती है। फिर, भाषा का उत्तरदायित्व इन साधनों को जुटाने में ही समाप्त हो जाता हो सो बात भी नहीं है। भाषा स्वयं भी संस्कृति के ही एक रूप में अवतीर्ण होती है। सभ्य मंडली में कोट पत-लूनधारी किसी व्यक्ति का गँवार ढंग से बोलना उसे असभ्य ही बना देता है।

संस्कृति के छोटे-बड़े उपादानों की साधन-स्वरूप

भाषा मानों संस्कृति की चेतना है और इस रूप में उसका महत्व इतना अधिक है कि भाषा के बिना संस्कृति की कल्पना तक हम नहीं कर सकते। एक बार दूसरे उपादान भले ही न हों; परन्तु यदि व्यक्ति भाषा की उज्ज्वलता से विभूषित है तो वह प्रत्येक सभ्य समाज, समस्त मानव-समाज, का अंग बन जाता है। आर्य साम्राज्यों के युग में जटा-वल्कलधारी ऋषिवर्ग, परिचय न होने पर भी, राज-दरबारों में स्वागत समझा जाता था। वर्तमान अर्थयुग का अर्द्ध नग्न ऋषि भी संसार के अखिलपराक्रमी सम्राट् और उसके प्रतिनिधियों के यहाँ आमंत्रित होता ही है।

छोटे-बड़े साधनों की हेतुता से भाषा का संस्कृति के साथ आनुपातिक सम्बन्ध देखने में आता है। जो भाषा केवल माता और पुत्र की बातचीत कराने में ही समर्थ है, अथवा जो भाषा केवल कोट-पतलूनवाले लोगों तक में ही व्यक्ति का प्रसरण कराने की योग्यता रखती है, उससे निस्सन्देह क्षुद्र, संकीर्ण, समाज की संस्कृति का ही रूप निर्धारित होता है। उसमें सांस्कृतिक गुरुता, विशालता, का बल और तेज नहीं है। जो भाषा विशालतर संस्कृति की प्रतीक बनती है वह उत्तरोत्तर क्रम से विचार और भाव की विशालता की भी प्रतीक होती जाती है। भाव और विचार की विशालता

में मानवता की विशालता, सार्वकालिक विश्वजनीनता, निहित है। व्यक्ति को संस्कृत बनानेवाले गुणों में विशालतर मानवीय सहानुभूति (भाव-और-विचार-सम्बन्धी आचरण की विशालता) के विकास से एक विशालतर संस्कृत समाज की सम्भावना होती है। उसी प्रकार यह भी सहज कल्पनीय है कि क्षुद्र विनिमयों से आगे बढ़ कर भाषा भी जब विशालतर पारस्परिकता के भावों और विचारों को प्रसार्यमाण करने में समर्थ होती है तो एक विशालतर संस्कृति विश्व के सामने आती है। यह भाषा साहित्य की भाषा है। यह भाषा कवियों की, जिज्ञासुओं की, तत्वान्वेषकों की, सत्यशोधकों की भाषा है। जिस भाषा ने आर्य ऋषियों और कालिदास जैसे कवियों को मानव सत्य के अन्वेषकों के रूप में विकसित और प्रस्फुटित किया है उसीने उन्हें सम्राटों का सभ्य भी बनाया है, साथ ही युग युगान्तर का भी सभ्य बनाया है। प्रत्येक देश के और प्रत्येक समय के श्रेष्ठ सभ्यों में वे अब तक अपने भाषास्वरूप में बराबर एक समादरपूर्ण स्थान पाते आए हैं और, आशा तो की जा सकती है, भविष्य में भी पाते रहेंगे।

व्यक्तियों और क्षुद्र समाजों से विस्तार कर किसी संस्कृति को विशालता की ओर ले जानेवाली भाषा उस संस्कृति के कालभेदी आदर्श के रूप में स्थिर होती है; वह उस संस्कृति का प्रतिबिम्ब, प्रतिरूप, होती है। व्यास और वसिष्ठ और कालिदास की भाषा हमारे सामने केवल उक्त व्यक्तियों और उनके समय की निजी भाषा ही नहीं, वह समस्त आर्यसंस्कृति की सार्वकालिक भाषा है। वह आर्यसाहित्य की भाषा है। आज आर्यों का, या किसी बड़ी से बड़ी संस्कृति का साहित्य नष्ट कर दीजिए; फिर बतलाइये कि वह संस्कृति कहाँ दिखलाई देती है, कहाँ रह जाती है।

जब कोई संस्कृति क्षुद्रता से विशालता की ओर अग्रसर होती है तो विशालता के लक्षणों के स्वीकरण में वह उन सांस्कृतिक गुणों को जो केवल क्षुद्र समाज को ही पल्लवित करनेवाले हैं यथावसर छोड़ती भी जाती है। इस प्रक्रिया का निर्देश भी भाषा से ही आरम्भ होता है और भाषा में ही सदा प्रतिफलित होता रहता है। 'लोटी' कह कर अपनी माता से मचलनेवाला बच्चा जिस समय 'रोटी' कहनेवाले घर के अन्यान्य लोगों के सभा-समाज में अपने को समाहित करने की चेतना (अज्ञात कामना)

प्रतिपन्न कर लेता है उस समय व्यक्ति के 'ल' को छोड़ कर सामाजिक या सभ्य 'र' को ग्रहण करने के मानसिक संस्कार और सहज प्रयत्न का भी उसमें विकास होजाता है। वही फिर घर की चहारदीवारी के बाहरवाले अधिक बड़े समाज में प्रविष्ट होकर 'रोटी' के स्थान में 'चपाती' या 'फुलके' को अपना कर, अपने क्षुद्र गृह-समाज को भी विशालतर समाज का अंग बनता हुआ उसमें 'फुलका' शब्द और उस शब्द की संस्कृति (अर्थात् पतली फूली रोटी की वांछनीयता) को प्रतिष्ठित कर लेता है। और फिर जिस प्रकार संस्कृति के प्रसार में 'लोटी' और 'रोटी' छूट जाते हैं उसी प्रकार कोट-पतलूनधारी समाज की अग्रसरता में कोट और 'क्रीज़' के 'फ़ॉल' या काजों की सुघरता को व्यक्त करनेवाली भाषा 'क्रीज' और 'काजों' को पीछे छोड़ कर धीरे-धीरे कोट और पतलून को भी अपने शब्दकोष से गिरा देती है। परिधान की उपयोगिता-मात्र के भाव का अपनी चेतना में स्थान रख कर वह अधिक विशालतर संस्कृति (सामाजिकता, सभ्यता या मान्यीयता) की ही बोधक पदावली द्वारा अपने को सार्थक करती है। क्या आप समझते हैं कि दशरथ या राम की सभा में बैठ कर कोपीनधारी वसिष्ठ जी

चोगों और राजमुकुट के नए-नए फैशनों की बात किया करते थे, जैसे कि आजकल हम अपने क्षुद्र समाजों में टाई के नॉट (knot) और कालर की नोक की बात करते हैं ? और क्या राम वसिष्ठ की बातचीत को कम-से-कम उतने ही समादर से नहीं सुनते थे जितने समादर से क्षुद्र समाज में हम आपकी किसी नई क्रीम की चर्चा को सुनते हैं ? बात यही है कि वसिष्ठादिक की सामाजिक विशालता में चोगे और कोपीन को ही नहीं त्याग दिया गया था उसने अपने उच्चारण और व्याकरण का भी संस्कार करके वैदिक 'ळृ' और ॐ आदि कितनी ही आर्ष विलक्षणताओं, स्वरों की विशेषताओं, सौत्रिक संक्षेप, यहाँ तक कि क्रियापदों तक, को उनकी जटिलता-संकीर्णता के कारण छोड़ दिया था क्रियापदों के स्थान में कृदन्तपदों का प्रयोग प्रचरित हो चला था। तभी वैदिक भाषा संस्कृत बन कर, विशालतर समाज की भाषा बन कर, रामादिक की सभा में वसिष्ठ-जैसों के समादर का साधन बन सकी थी।

विशालता की यात्रा में संस्कृति और भाषा को अपनी भौगोलिक सीमाओं का विस्तार करना पड़ता है। घर से गाँव, गाँव से नगर, नगर से प्रान्त, और प्रान्त से सारा

देश-राष्ट्र ! और फिर, यदि हो सके तो अखिल विश्व ! तब गाँव या नगर की संस्कृति वर्गों की संस्कृति बन जाती है और देश या राष्ट्र की संस्कृति प्रान्तों और नगरों की संस्कृति बन जाती है और उसी प्रकार संस्कृति की पुरोगामी भाषा भी। जहाँ संस्कृति और भाषा अपने क्षुद्र समाजों को साथ लिए हुए और उन समाजों की क्षुद्र विलक्षणताओं को त्यागती हुई इस प्रकार आत्मविस्तार नहीं करती वहाँ उत्तरोत्तर क्रम में नगर प्रान्त और राष्ट्र की कल्पना भी अघटनीय ही रहती है। इसी भाँति जब किसी विशालतर संस्कृति की भाषा भी पथभ्रष्ट होकर क्षुद्र समाजों के साधनत्व में ही अपने को संकीर्ण बनाने लगती है तो उससे उस संस्कृति के निम्नागतक्रम और स्थानभ्रंश की सूचना मिलती है।

'नगर', 'प्रान्त', 'देश' आदि भौगोलिक शब्द हैं: परन्तु 'राष्ट्र' शब्द संस्कृति-बोधक है। 'भारतदेश' और 'भारतराष्ट्र' कहने में बड़ा अन्तर पड़ जाता है। 'राष्ट्र' शब्द की सांस्कृतिक विलक्षणता संगठन में है। संगठित देश राष्ट्र बनता है। देश के बिखरे हुए समानोपयोगी साधनों और देश में बसनेवाली जाति या जातियों में बिखरी हुई समानहित-साधक शक्तियों का संकलित होकर सामान्य बनना उनका ऐक्यभाव-स्यूत रूप में

सकर्मण्य होना, ही किसी देश का राष्ट्र बनना है। सामान्य मानव भावनाओं को संकलित कर एक विश्व-मानवीय संस्कृति का रूप तो आर्यों ने घटित किया था। समुद्र पार के द्वीपों तथा मिश्र, मेक्सिको आदि के तटों तक उस संस्कृति का प्रसार दिखाई दिया था। परन्तु उस संस्कृति के विभिन्न तन्तुओं में विश्वव्यापी संगठन की कोई बड़ी कमी रह गई होगी जिससे किसी लोकविशाल मानवराष्ट्र की सम्भावना साकार न हो सकी और आर्य-संस्कृति प्रतिनिवृत्त होकर पुनः केवल आर्यदेशों की संस्कृति ही रह गई। संगठन की यह त्रुटि प्रधानतः भाषा की त्रुटि थी। क्या मालूम किन कारणों से आर्य भाषा द्वीपान्तरों में प्रतिष्ठित न हो सकी और आर्य संस्कृति के मानवीय तत्व इतर देशों में बद्धमूल न हो सके। राष्ट्र यदि संस्कृति का संगठन है तो भाषा उस संगठन का गोंद है।

आज पाश्चात्य संस्कृति विश्वव्यापिनी बन रही है, जिसके लिए अँग्रेजी भाषा का उत्तरदायित्व है। यह संस्कृति अत्यन्त लोकायतिक होने के कारण सामान्य मानवीय तत्वों से शून्य है जिसके कारण सम्पूर्ण पाश्चात्य मानवता की भी सर्वांगीण सहानुभूति से वह

वंचित है। फलतः उसके तत्वों में संगठित होने की शक्ति की न्यूनता भी होनी ही चाहिए। उसमें विश्वव्यापी किसी अंग्रेजी या पाश्चात्य राष्ट्र की कल्पना असम्भव है। इतना होने पर भी, आपस में न जुड़-सकनेवाले संस्कृति-गुणों को लेकर ही, उस संस्कृति को विश्वव्यापिनी बनाने-वाली भाषा की शक्ति हमारे सामने और अधिक स्पष्ट, स्पष्टतम, हो उठती है।

जहाँ-जहाँ अँग्रेजी भाषा गई वहाँ-वहाँ पाश्चात्य संस्कृति का अँग्रेजी रूप भी गया, जहाँ-जहाँ वह भाषा ठहरी वहाँ-वहाँ उस संस्कृति का रूप भी लोगों का चरित्रगुण बन कर ठहर गया। भारत को देख लीजिए, और भारत में नगरों और देहातों के चारित्रिक भेद को भी देख लीजिए। राजनैतिक गुलामी तो दूसरी चीज है; परन्तु इस देश में यदि अँग्रेजी भाषा का आगमन न हुआ होता तो क्या आज का भारतीय वैसा ही चार्वाकी, मिथ्याहंकारग्रस्त, अनीश्वरवादी और कायर, भी होता जैसा कि वह है। मुसलमानों के सुदीर्घतर शासन में भारतीय आर्य का इतना अधिक सांस्कृतिक ह्रास नहीं हुआ था: क्योंकि, यद्यपि फ़ारसी आई परंतु, कबीर के दिनों तक ही, एक सार्वभौमिक हिन्दी का रूप भी प्रतिष्ठित हो गया था जो

कबीर-साहित्य में ही भारतीय संस्कृति के फैलाव का भी साधक दिखाई दिया। इस साधकत्व की परम्परा लौकिक काव्य से भिन्न समस्त सन्त-साहित्य की भाषा में भी हम देख सकते हैं। भाषा की इस सजीवता में हम यहाँ तक देख सकते हैं कि वे मुसलमान भी, जो यहाँ ठहरे, आर्य संस्कृति के प्रभाव को बराबर किसी-न-किसी मात्रा में अनुभूत करते रहे।

...ार्य भाषा की सांस्कृतिक परम्परा

संस्कृति और भाषा के अभिन्न सम्बन्ध को हृदयंगम कर लेना अधिक दुरूह नहीं है और जब हम एक बार उसे स्वीकार कर लेते हैं तो एक कदम आगे बढ़ कर हम यह भी देख सकते हैं कि किसी संस्कृति का उत्थान और पतन उस संस्कृति की भाषा के उत्थान और पतन के साथ ही साथ चला करता है।

संसार में सबसे पुरानी और दीर्घजीविनी संस्कृति यदि हमें कोई दिखाई देती है तो वह आर्य संस्कृति है। पुरातत्वविदों के अनुसार ईसा से सहस्रों वर्ष पहले इस संस्कृति का सुव्यक्त रूप बन चुका था। एक विद्वान्, "एन्टिक्विटी आव् दि इंडो-आर्यन रेस" (Antiquity of the Indo-Aryan Race) के लेखक पंडित भगवानदास पाठक, ने तो ज्यौतिष संकेतों के आधार पर इस संस्कृति की ईसा-पूर्व के पचीस-छब्बीस हज़ार वर्ष पहले तक की सूचनाओं को प्राचीन आर्य साहित्य में तलाश किया है।

पचीस-छब्बीस हज़ार वर्ष पहले आर्यों की भाषा का

वही रूप था जो ऋग्वेद की प्राचीनतम ऋचाओं में हमें मिलता है, अथवा कोई अन्य, यह कह सकना कठिन है। हमारे सामने ऋग्वेद की प्राचीनतम ऋचाएँ ही आर्यभाषा के प्राचीनतम रूप में आती हैं।

ऋग्वेद स्वयं सुदीर्घकालिक परस्परविच्छिन्न रचनाओं का संग्रह बतलाया जाता है जिसके कारण ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में अकसर, कहीं कम और कहीं अधिक रूप में, भाषाभेद दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है। परंतु ऋग्वेद की भाषा एक ही समझी जाती है। यजुर्वेद में और सामवेद में प्रयोगभेद से प्रायः ऋग्वेद की ऋचाओं की ही पुनरावृत्ति दिखाई देती है, जिनमें कर्म और संगीत की नई संस्कृति के कारण, भाषा-तत्व की दृष्टि से, उच्चारण की विशेषता पैदा होगई थी।

इस वेदत्रयी के बाद की रचना अथर्ववेद है। अथर्ववेद तक आर्य संस्कृति ने अपने विषयक्षेत्र का विस्तार लोकायत शक्ति की अर्चना के रूप में कर लिया था। अथर्ववेद भी एक दीर्घकालिक रचना-संग्रह है। जिस शक्ति से वैज्ञानिक, औद्योगिक और राजनैतिक अभ्युदय का संग्रह होने पर आर्यों का द्वीपान्तरों में औपनिवेशिक प्रसार और व्यापारिक सम्बन्ध हुआ होगा उसका समय अथर्वविज्ञान

के भी विकास और परिणति का समय रहा होगा, यह कुछ-कुछ कल्पनीय है। अथर्ववेद शक्तिवेद है। याज्ञिक कर्मठता शक्ति-उपार्जन की ही एक आरम्भिक सीढ़ी है। सहज अनुभूतियों के आवेशमय सहज उद्गार से चलकर, उपासना और संगीत द्वारा वृत्ति-सन्तुलन की किसी संस्कारावस्था को पार कर, सत्ता के संगठन और शक्ति-संग्रह में भरपूर निरत रहनेवाला पुरातन आर्यपुरुष अपने लम्बे सांस्कृतिक विकास में अपने सामाजिक विकास और विस्तार का भी परिचय देता चलता है। 'संगठन' शब्द में ही सामाजिकता का पूर्वाभास है। उपासना और संगीत का तत्व सहज उद्गार में भी मौजूद है, परन्तु जब उनमें पद्धति का रूप आता है तो वे संगठित होकर सामाजिक होने लगते है। याज्ञिक कर्मकांड तो इन्हे मानों सामाजिकता का नियम ही बना देते हैं, समाज के बगैर यज्ञादिक के कर्म चल ही नहीं सकते, जैसे कि मुसलमानों की जुमे की नमाज़।

सामाजिकता पारस्परिक व्यवहार का विज्ञान है, जिसमें संयम और नियम की भावना का उदय होता है। समाज के अन्दर व्यक्ति के आचरण को नियमित और संयमित होना पड़ता है। कर्मकांडी मनुष्यों के आचरण

में जितनी नाप-तौल की निर्दिष्टता रहती है उससे आज-कल के युग में भी हम थोड़ा-बहुत परिचित हैं। अन्ततः हम कह सकते हैं कि आचरण की नाप-तौल में स्वयं सामाजिकता के विकासक्रम की समस्त सूचना पाई जा सकती है। भाषा भी आचरण का एक रूप है। अत. यजुर्वेद और सामवेद की भाषासम्बन्धी नाप-तौल यदि हमें आर्य संस्कृति की एक विकास-पद्धति की सहगामिनी दिखाई देती है तो अथर्वकालीन संस्कृति भी बिलकुल अपनी परिणति की मात्रा के अनुसार ही तद्युगीन भाषा की परिणति में देखी जा सकती है। अथर्ववेद की भाषा ऋग्वेदवाली उद्गारमयी भाषा नहीं है। यह व्यवसाय-व्यवहार की भाषा है जिसमें वह सादगी, वह प्रवाह, कथनीय का वह लय आदि दृष्टिगोचर नहीं होता जो ऋग्वेद में हमें मिलता है। अथर्वयुग तक ऋग्वेदवाली पदावली में भी हेर-फेर हो गया है। कितने ही पुराने शब्द लुप्त हो गए हैं, बहुत से नए शब्द आगए हैं, और यहाँ तक हुआ है कि दोनों के व्याकरण में काफी अन्तर पैदा होगया है। इस सब के हेतुरूप में, भाषा में ही, शब्दों और वाक्यों का एक नए ढंग का नपातुलापन दिखाई देना कठिन नहीं है। यह नपातुलापन यजुस् और साम

का केवल स्वर–उच्चारण–सम्बन्धी नपातुलापन नहीं है। वह केवल वक्तव्यमात्र का भी नपातुलापन नहीं है। आथर्वण प्रयोग का नपातुलापन वस्तुतः वक्तव्य के साध्य का दृष्टिकोण रखता हुआ उस वक्तव्य की रीति का निर्देश करता है।

अथर्वयुग की सीमाएँ बहुत काफी लम्बी–चौड़ी हैं। यह देखते हुए प्रारम्भिक आरण्यकों, ब्राह्मणों, उपनिषदों आदि को अथर्वविज्ञान के उदय का समकालिक, या उससे भी कुछ पूर्ववर्ती, समझने में कोई रुकावट नहीं मालूम होती। इन उपनिषदादिक की शृंखला अथर्ववेद के बाद भी चलती रहती है और उस शृंखल के साथ श्रौत सूत्रों के साहित्य का संयोग भी हो जाता है। इन सब प्रकार के रचनावर्गों में वैदिक संहिता की भाषा से भिन्न कई भाषा–प्रकारों के दर्शन होते हैं। इस सब के बीच में भाषा की सबसे बड़ी और अद्भुत प्रगति गद्य के उदय में देखी जाती है। संहिता–साहित्य में जहाँ हमें वक्तव्य–साध्य की निर्दिष्टता का आभास मिलता है वहीं गद्य साहित्य के उदय की सूचना भी विद्यमान है, क्योंकि निर्दिष्टता का पूर्वगामी विवेक और अनुगामी तर्क है जिसका भाषा-स्वरूप गद्य है। गद्य का आदितम रूप हम यजुर्वेद में ही देख

लेते हैं। यजुर्वेद में ऋग्वेद की सहज उद्गारोपासना का पद्धति के रूप में विकसित होकर दिखाई देना—उसका कर्मठता से निर्दिष्ट होजाना—और उसी के साथ-साथ गद्य का भी योग होजाना एक ऐसा अद्भुत संयोग है जो, विशेष रूप से उस अकृत्रिम युग के विकास के एक आदिक्रम में घटित होने के कारण, गद्य और संगठन, निर्दिष्टता, के किसी स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध का एक गहरा सन्देह उत्पन्न किए बिना नहीं रहता।

ऋग्यजुस्साम की संस्कृति के बाद आर्यों ने अपनी अकल्पित सहज उद्गारपरम्परा में धीरे-धीरे प्रसार्यमाण विवेकवृत्ति के संयोग से दो सुनिर्दिष्ट मानसिक संस्कारों की उद्भावना की। अकल्पित उद्गारवृत्ति कौतूहलमयी थी, विवेक ने उसे जिज्ञासामयी बना दिया जिससे गवेषणा को प्रोत्तेजन मिला। यह गवेषणा दो धाराओं में प्रवाहित होकर एक ओर तो कुतूहल-जननी प्रकृति आदि की रहस्य-चिन्तना में व्यस्त बनती है; दूसरी ओर अपने को (गवेषक को) प्रकृति के बीच में, प्रकृति के ही अंगरूप में, पाकर प्राकृतिक शक्तियों को अपनी सहयोगिनी और अनुयोगिनी बनाती है। अभी तक मनुष्य ही प्रकृति का अनुयोगी, सहचारी, था। ये दो धाराएँ आध्यात्मिक और

आधिभौतिक की, दर्शन और संचय (अर्थवाद) की, धाराएँ हैं। दोनों स्वतंत्ररूप से चलती हैं, परन्तु कौतूहल की मूल वृत्ति का सूत्र कायम रहता है, जिससे संचय अध्यात्म से विलग नहीं होता और आर्यसंस्कृति की मौलिकता अथर्वयुग के अर्थवाद में अक्षुण्ण रहती है।

विवेक, जिज्ञासा, तर्क, व्यवहार, वाणी और जिज्ञासा, संचय, तर्क, व्यवहार, वाणी की निर्दिष्टता, और फिर जिज्ञासा संचय, व्यवहार, शब्दकोष की व्यापकता आदि–ये सब परस्पर–शृंखलित समान्तर विकास–स्थितियाँ हैं जो कई सहस्रों वर्ष के वैदिक युग में हमको मिलती हैं। कई सहस्रों वर्ष के युग में–इसमें सन्देह नहीं। ऋग्वेदसंहिता के प्राचीनतम अंशों से लेकर श्रौतसूत्रों की अर्वाचीनतम रचनाओं तक श्रौत (अर्थात् श्रुति का) समय या वैदिक युग समझा जाता है। इस युग में प्रारम्भिक विस्मय कौतूहल और श्रद्धा की सहज व्यक्तिगत उद्गारवृत्ति अध्यात्म–विज्ञान की दिशा में ज्योतिष, सामाजिकता और संचय की दिशा में कल्प (याज्ञिक कर्मकांड) और उस सामाजिकता के ही हेतु से भाषा की दिशा में शिक्षा, छंदस, व्याकरण और निरुक्त के परिणाम को प्राप्त हो चुकी है। छहों वेदांगों के अतिरिक्त अध्यात्म–दर्शन की दिशा का

संकेत वेदान्त (उपनिषत्) में मिलता है। यह ध्यान में रखने की बात है कि वेदांगों और उपनिषत् की प्रवृत्ति अलग-अलग चार दिशाओं में होने पर भी उनमें लक्ष्य की एकसूत्रता बराबर विद्यमान है—विषय-साध्यता के हेतु से उनमें आदिम उद्गारी आर्य की संस्कृति की ही बहुविध सिद्धि का प्रयत्न प्रधान है। अपनी बहुविधता में यह प्रयत्न उत्तरोत्तर विकासमान सामाजिकता को स्वाभाविकतया ही अपने साथ लेता चला है, जिसकी साधना में भाषा भी उतनी ही भूरिभाग हो उठी है। छै वेदांगों में से चार (शिक्षा, छंदस, व्याकरण और निरुक्त की उद्दिष्ट केवल भाषा ही है, जो बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में स्वयं भी इस बात की सूचना देती है कि समय पाकर आर्य-सामाजिकता कितनी अधिक बढ़ गई थी। भाषा-सम्बन्धी इन चारों वेदांगो में निरुक्त का उदय इस बात का भी पता देता है कि श्रौत युग के ही किसी एक भाग में संहिताओं की भाषा प्रचलित भाषा से काफी विच्छिन्न होगई थी; वह पुरानी पड़ कर विस्तारशील नई सामाजिकता की बढ़ी हुई आवश्यकताओं के लिए अप्रयोज्य हो चली थी।

व्याकरण की आवश्यकता अनुभूत होने का यह अर्थ है कि सामाजिकता विकास और विस्तार की उस स्थिति

को पहुँच गई थी जिसमें बोलचाल के व्यावहारिक शिष्टाचरण के अतिरिक्त भाषा के स्थिरीकरण की भी ज़रूरत पड़ती है। आगे के किन्हीं ज़मानों में भाषाओं के व्याकरण लिखा जाना शायद कुछ सीमा तक रिवाज की चीज़ बन गया हो; परन्तु अपने प्रथम आविर्भाव के समय उसके लिए कोई मजबूर करनेवाली बलवती प्रेरणाएँ रही होंगी, यह समझ में आने की बात है। निरुक्त के उद्भव से हमें प्राचीन और प्रचलित भाषाओं की शब्दावली में अन्तर पड़ जाने की सूचना मिलती है। व्याकरण के उद्भव में यह विज्ञप्ति है कि शब्दों और वाक्यों के प्राचीन प्रयोग में भी फ़र्क़ आ गया था। समय के दीर्घ अन्तर के साथ-साथ देश का भी बहुत अधिक विस्तार हो जाने की दशा में क्या यह स्वाभाविक न था कि, न मालूम कितनी नई-नई छोटी-छोटी विभिन्न जातियों के देशी शब्द और प्रयोग आर्य भाषा में इस मात्रा में प्रविष्ट होने लगे हों कि धीरे-धीरे आर्य भाषा और संस्कृति के ही लुप्त होने की सम्भावना पैदा हो गई हो? क्या यह सहज चिन्तनीय नहीं है कि व्याकरणोदय के समय तक आर्य-भाषा का जैसा-कुछ व्यापक रूप बन गया था उसको यदि स्थिर न किया जाता तो, शायद

निकट भविष्य में ही, आर्यभाषा के स्थान में बहुत छोटे-छोटे भूप्रदेशों—उन्हें शौकिया कहना चाहें तो 'जनपद' कह लीजिए—की असंख्य बोलियाँ ही प्रतिष्ठित हो जातीं और आर्य-संस्कृति धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो जाती? यह सम्भव है कि उस समय के आर्य-समाज ने अपनी संस्कृति के बारे में किसी लम्बे भविष्य की बात न सोची होगी; परन्तु अपने वर्तमान में ही विपन्नता से बढ़ते हुए किन्हीं सांस्कृतिक विकारों और पारस्परिक तथा आन्तर्जनपदीय विचार-विनिमय की आतुरता ने अवश्य उसे अपनी सांस्कृतिक, सर्वसामाजिक, भाषा को व्याकृत-नियमित बनाने के लिए विवश किया था। इससे यह नियम हुआ कि संस्कृतों, सामाजिकों की वही भाषा होगी जो व्याकरण-सम्मत होगी।

इन तमाम बातों के बीच में एक और बात भी नज़र में आती है जो बड़ी ही विलक्षण और महत्त्वपूर्ण-सी मालूम होती है। हज़ारों वर्षों के उस लम्बे अतीत युग में, जिसका कोई इतिहास नहीं है, मूल संस्कृति में न मालूम कितने हेर-फेर हुए होंगे, कितने नए प्रभावों का उसमें सम्मिश्रण हुआ होगा, कितने आपस में लड़नेवाले या मेल रखनेवाले तथा समय-प्रवाह में बनने-बिगड़नेवाले

नए-नए राज्यों अथवा स्वतंत्र जिमींदारियों का उदय या समागम हुआ होगा। इन सब के बीच में वैदिक आर्य ने पुरोगामी परिस्थितियों से प्रतिकृत होकर और अनुगामी परिस्थितियों को उत्पन्न कर अपनी भावसंस्कृति में बुद्धितत्व का अद्भुत उन्नयन कर नए-नए वेदांगों-वेदान्तों आदि के रूप में दर्शन और विज्ञान की बारीक खोज तथा सूक्ष्म विश्लेषणात्मक योग्यता का परिचय दिया है। आत्म-निर्णय की संगठनात्मक प्रवृत्ति में समाजवाद की ओर विशालता के साथ अग्रसर होते हुए उसने अपने विलक्षण व्यक्तिवाद को भी सांस्कृतिक, वैज्ञानिक रूप में उसी विशालता के साथ प्रसारित किया है, जिसमें उसका व्यक्तिवाद और समाजवाद एकाकार हो उठा है। तब क्या यह सचमुच एक अति विस्मयकर बात नहीं है कि चार-चार भाषा-सम्बन्धी वेदांगों को पैदा करके भी उस आर्य का अपनी भाषा या भाषाओं का नामकरण करने की ओर तनिक ध्यान तक नहीं गया? भाषा के सम्बन्ध में वह अपने व्यक्तित्व या अपने नए-नए सामाजिक व्यक्तित्वों को कैसे हमेशा तक भूला रहा? आज हम उस लम्बे युग की भाषा को 'वैदिक भाषा', या अधिक व्यापकता की दृष्टि से 'संस्कृत

भाषा' ही, कहते हैं। परन्तु उस वैदिक (अर्थात् वैदिक, श्रौत, साहित्य की) भाषा का नाम क्या है सो कोई नहीं बतलाता। भाषा के अर्थबोधक 'भाषा', 'वाच्', 'वाणी', 'गी:', 'सरस्वती', 'भारती' आदि शब्द तो प्राचीन साहित्य-क्रम में हमें मिलते हैं; परन्तु आर्यों की विशिष्ट भाषा के लिए कोई व्यक्तिवाचक संज्ञा-शब्द उपलब्ध नहीं होता।

ऊपर दिए गए भाषार्थबोधक शब्द अधिकांशतः व्याख्यानात्मक हैं। केवल 'भारती' शब्द ऐसा है जो समाज या राष्ट्र की कल्पना रखता है, जैसे कि आजकल का 'हिन्दी' शब्द। परन्तु विचित्रता यह है कि 'भारती' भी विच्छेदात्मक व्यक्तिवाचक नाम न बन कर भाषात्व के सम्बोधन में ही समाविष्ट हो गया। कारण यह था कि जो भारती संस्कृति थी वही आर्य संस्कृति भी थी। आर्यों के भीतर एक-सूत्री सांस्कृतिक भावना कितनी प्रबल थी इसका प्रमाण 'भारती' शब्द हमें देता है। भरतवंश अथवा भारत-साम्राज्य स्थायी वस्तु न थे, पर उनकी संस्कृति स्थायी थी। इसीलिए भरतवंश और उसके साम्राज्य का लोप होने के बाद, सुचिर भविष्य में भी, 'भारती' शब्द अपनी प्रतिष्ठा में सुस्थिर, सुदृढ़ रह गया—ऐसा सुदृढ़ कि कोई भी भाषा हो, वह 'भारती' है।

बड़े-बड़े सम्राट् और बड़े-बड़े साम्राज्य हो चुके हैं जिन्होंने अपने व्यक्तित्व-प्राधान्य की भावना में अलग-अलग सम्वत् तक चलाए हैं; परन्तु उन सब की जाति और संस्कृति आर्य थी, और संस्कृति के प्रवाह में 'भारती' शब्द में भारत-प्राधान्य-बोधक विच्छेदात्मक व्यक्तित्व रह नहीं गया था। अतः सम्वत् चलानेवाले इन महासाम्राज्यों की व्यक्तित्व-भावना को भी हम भाषा-सम्बन्धी किसी नाम-निर्देश में नहीं देखते। यह बात आपको आजकल के ईसाई साम्राज्यों में नहीं मिलेगी, क्योंकि ईसाई धर्मावलम्बी होने पर भी वे सब आपस में अपने किन्ही मौलिक संस्कृति-सूत्रों से सम्बद्ध नहीं हैं। भरतवंश और भरत-राज्य न रहा सही, साम्राज्यों के उत्थान और पतन भी खूब ही हुए, परन्तु आर्यों की सामाजिकता, राष्ट्रीयता सब अवस्थाओं में एक रही। इसीलिए कालान्तरों और देशान्तरों के विभेदों को अपने में ही मिलाती हुई इसकी भाषा भी एक ही रही। वस्तुओं का नामकरण प्रायः तभी होता है जब समानवर्गीय दूसरी वस्तुओं से उनका भेद करने की आवश्यकता पड़ती है। विभेद में व्यक्तिभावना रहती है। यदि एक ही व्यक्ति हो तो वह किसके लिए अपना नाम रक्खेगा। सम्भव है 'भारती' शब्द के उदय में

कुछ और व्यक्तियों के उदय का भी थोड़ा-बहुत इतिहास हो, परन्तु कालान्तर में वे व्यक्ति-सत्ताएँ 'भारती' में ही अवश्य मिल गई होंगी, जिससे 'भारती' का अर्थ भाषामात्र रह गया।

२

आर्य संस्कृति के दूसरे विशाल सोपान का इतिहास हमें 'स्मृति' शब्द में मिलता है। स्मार्त युग श्रौत युग का उत्तराधिकारी है। स्मार्त युग आरण्यक सामाजिकता का नागरिक और राष्ट्रीय सामाजिकता के रूप में प्रसार है। दोनों की सन्धि का समय गृह्यसूत्रों का समय है, जिसमें गृहस्थ जीवन के संगठन का प्रयत्न दर्शनीय है। गार्हस्थ संगठन की नींव पर स्थित सामाजिक संगठन कितना दृढ़ और सुचिरस्थायी होगा! संगठन की यह पद्धति भी कितनी मनोवैज्ञानिक और भूतवैज्ञानिक है। निस्सन्देह श्रौत या गृह्य काल के आर्य ने यह संगठन किसी सुदूर भविष्य के राष्ट्रीय उद्देश्य को रख कर नहीं किया होगा। उस समय का भोला-भाला और सुखी आर्य इतना अधिक दूरदर्शी शायद नहीं हो सकता होगा। यह सचमुच अति आश्चर्यकर बात है कि प्राचीन आर्य की एकता के उत्तरोत्तर सामाजिक प्रसार में हमें विकास की एक-एक पद्धति कितने स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक रूप में सहजता,

अकृत्रिमता के साथ घटित होती हुई प्राप्त होती है। उसमें अवरोध, गतिहीनता, नहीं है। उसके चेतन प्रयास में भी अप्रयासताहै, क्लिष्ट कल्पना नहीं। भौतिक द्वन्द्व उस समय भी, ऋग्वेद के समय भी, थे; आर्थिक समस्याएँ भी थीं—गोधन को लेकर ऋग्वेद के समय तक में हम उनको देख सकते हैं—यद्यपि उनमें आजकल की सी कृत्रिम जटिलता नहीं थी,परन्तु आर्यों की सांस्कृतिक चेतना का सूत्र एक था। उसीसे उनकी विकास-पद्धतियों में स्वभाव का, सहजता का,सहयोग था: प्रवाहहीनता और कष्टकल्पना का अवरोध याप्रतिरोध न था।

आर्य संस्कृति के दूसरे विशाल सोपान का इतिहास हमें 'संस्कृत' शब्द में भी मिलता है। 'संस्कृत' शब्द के उद्भव में आर्य संस्कृति के भीतर विभेदात्मक व्यक्तित्व की प्रवृत्ति की पहली सूचना प्राप्त होती है। जिन लोगों ने प्राचीन साहित्य का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन किया है वे इस शब्द का ठीक-ठीक जन्म-समय भी शायद बतला सकें। स्थूल दृष्टि से यह व्याकरण की प्रतिष्ठा का समकालिक या उसके कुछ बाद का तथा आदिकाव्य और स्मृतियों के उदय के कुछ पहले का समय हो सकता है। यही समय श्रौत युग और स्मार्त युग की सन्धि का भी

समय होगा। संगठन की पद्धति से एक नव दिशा में विकासमान उस समूह की सामाजिकता को प्रमाणिकता की तुला पर बिठाने का इस 'संस्कृत' शब्द में भरपूर आन्दोलन है। 'संस्कृत' शब्द में संगठन की घोषणा है। 'संस्कृत' का उदय इस बात का द्योतक है कि उस समय आर्यों में एक सामूहिक-दृष्टिकोणवाली आत्मपरक सदसद्विवेचन-दृष्टि का उन्मेष हो चुका था।

कुछ विद्वानों का मत है कि संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा नहीं थी। इस मत के लिए अपने तर्क का संग्रह वे 'संस्कृत' शब्द से ही करते हैं। यदि उनके मत का अभिप्राय यह है कि संस्कृत बोलचाल से एकदम भिन्न कोई दूसरी ही कृत्रिम भाषा थी तो यह मत भाषातत्त्व के समस्त सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। भाषा का प्रवाह स्वयं चला करता है और वह समय के साथ वातावरण तथा भूमि के तत्त्वों से प्रतिकृत होती हुई स्वयं ही विकसित हुआ करती है। अन्यथा सभ्य समाजों में प्रचलित भाषा के हमेशा ही दो रूप हुआ करते हैं—एक जनसाधारण की असंस्कृत भाषा, और दूसरा पढ़े-लिखे समाज की व्याकरण-सम्मत, प्रामाणिक, संस्कृत

भाष।। व्याकरण की दृष्टि से स्वयं पढ़े-लिखे समाज में ही उसकी भाषा के, भाषित और लिखित, दो रूप मिलते हैं। पढ़े-लिखे लोगों की भी बोलचाल की भाषा प्रायः कुछ अव्याकृत और टूटी-टूटी सी रह जाती है। शायद औरतों और मर्दों की बोलचाल में भी कुछ 'अन्तर रहता होगा, क्योंकि स्त्री की अपेक्षा मनुष्य अधिक सामाजिक होता है। लिखित और भाषित के विभेद से संसार की आजकल की किसी भी भाषा के दो-दो और तीन-तीन रूप देखे जा सकते हैं। पास में हिन्दी और अँग्रेज़ी को ही हम देख सकते हैं।

परन्तु इस तरह के रूप-वैविध्य से भाषा की विविधता तो प्रमाणित नहीं होती। वस्तुतः किसी देश या जाति की, किसी भी समय में, बोलचाल के तथा लिखित रूप में दो भिन्न-भिन्न भाषाएँ नहीं हुआ करतीं। इसकी कल्पना ही दुष्कर है। जो बोलचाल की भाषा होती है वही बोलने-वाले समाज के अधिक संस्कारसंयुक्त होने पर कुछ संस्कृत रूप में लिखित भाषा भी हो जाती है, और उसी रूप में संचरित भी होने लगती है। समाज का संस्कृत अंश आपस में इसी संस्कृत भाषा को, व्याकरण की कुछ असावधानी के साथ, बोलता भी है, भले ही घरों में या

असंस्कृतों के संयोग में वह अभ्यासवश असंस्कृत बोली का भी प्रयोग कर लेता हो। कालान्तर में इसी संस्कृत भाषा का फल यह होता है कि उसकी सामाजिकता से विच्छिन्न होकर बोलचाल की बोलियाँ अप्रयोज्य होती हुई उससे दूर हटती जाती हैं। इस संस्कृत भाषा की सामाजिकता की शक्ति में यह देखने में आता है कि उसके क्षेत्र के भीतर असंस्कृत व्यक्ति भी, अर्थात् जो उसे नहीं बोलते, उसे समझ पाते हैं; परन्तु संस्कृत (सामाजिक) व्यक्ति को असंस्कृतों की बोली समझने में बादमें (अर्थात् जब ग्रामीण बोलियाँ विच्छिन्न होकर संस्कृत भाषा से दूरतर हो जाती हैं) बड़ी अड़चन पड़ती है। यही उस संस्कृत भाषा की प्रमाणिकता है। इसे हम आजकल हिन्दी में ही देख सकते हैं। हिन्दी बोलने वाला व्यक्ति आज जितने अधिक क्षेत्र में अपने विचारों को व्यक्त कर सकता है उतने अधिक क्षेत्र में हिन्दी जगत् के ही विभिन्नस्थानीय बोलियाँ बोलनेवाले लोग नहीं।

किसी जाति की तत्तत्स्थानीय बोलियाँ बोलनेवाले लोग जब अपनी विराट् जातीय संस्कृति से अत्यंत विच्छिन्न होकर इतने पिछड़ जाते हैं कि वे जातीय संस्कृति का साथ नहीं दे सकते तो वे कालान्तर में प्रति-

क्रिया द्वारा अपनी-अपनी स्वतंत्र संस्कृतियाँ बनाने लगते हैं और उनकी बोलियाँ भी स्वतंत्र भाषाओं का रूप विकसित करने लगती हैं। किसी देश और जाति के भीतर प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता उत्पन्न होने का रहस्य भिन्न-भिन्न प्रान्तों और जाति-सम्प्रदायों की कोई पूर्वगामी घोर ह्रासावस्था ही होती है। उनके उस ह्रास के कारण उनकी निजी अकर्मठता में अथवा किन्हीं राजनीतिक परिस्थितियों में मिल सकते हैं। संस्कृत भाषा के इतिहास में ही हमें इसके प्रमाण मिल जाएँगे।

संस्कृत भाषा का धारावाह ऐकाधिपत्य स्मार्त युग के आरम्भ से ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के आस-पास तक बराबर चलता है। पाश्चात्य लेखकों के अत्यन्त संकीर्ण अनुमान के अनुसार भी यह युग चौदह-पन्द्रह सौ वर्ष का होना चाहिए। अन्यथा तो, यह समय बुद्धोदय से बहुत पहले आरम्भ होकर और भी दीर्घतर प्रमाणित हो सकता है। पाश्चात्य लेखक रामायण और महाभारत को ईसा से पहले की पाँच-छै-शताब्दियों के भीतर की रचनाएँ बतलाते हैं, जिनमें महाभारत तो, उसमें आए हुए कुछ बौद्ध प्रसंगों की दृष्टि से, बुद्ध के बाद की समझी जाती है। इस तरह के प्रसंगों के रचना-समय की खोज उन

लेखकों ने की होगी। परन्तु सांस्कृतिक आचरण के दृष्टि-कोण से एक बात बहुत अधिक विचारणीय है।

संस्कृति जब सामाजिक होने लगती है तो उसमें धीरे-धीरे बाह्य आचरण का महत्व भी बढ़ता जाता है; यहाँ तक कि बढ़ते-बढ़ते उसमें कृत्रिमता और दुराग्रह का आवेश भी पैदा हो जाता है, जैसा कि आजकल के सभ्याचरण में हो गया है। बौद्ध धर्म का उदय आर्य संस्कृति के ब्राह्मणिक आचरण (कर्मकांड आदि) के विरुद्ध विकट विद्रोह के रूप में था। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में उस समय के ब्राह्म समाज में भी अत्यन्त खिन्नता और क्षोभ का उदय हुआ ही होगा, यह हमें मानना चाहिए। और यह भी मानना चाहिए कि यह प्रतिक्रिया बौद्ध धर्म की बल-प्राप्ति के साथ-साथ बढ़ती भी गई ही होगी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अपने जिस मानसिक दुःख का हम बाह्य प्रतिकार, या कम से कम उद्गार भी, नहीं कर पाते हैं उसका दुःखहेतु के अभ्युदय के साथ-साथ अधिकाधिक उपचय भी होता रहता है। सम्भव है उस समय के ब्राह्म समाज में निर्बलता के कोई ऐसे तत्व रहे हों जिससे उस प्रतिक्रिया को कार्यरूप न प्राप्त हो सका। तब जब, बुद्धोदय के थोड़े समय बाद ही, महाभारत द्वारा क्रियात्मक

प्रतिक्रिया का कुछ अवसर मिला तो महाभारत का रचयिता क्या बौद्ध-सम्बन्धी इतना सा ही उल्लेख करके रह जाता जितना अपने रेलयात्रा के वर्णन में हम, यों ही याद आजाने के प्रसंग से, किसी अति गौण सहयात्री का कर लेते हैं ? इतना ही नहीं। महाभारत जैन-धर्म-सम्बन्धी कोई उतनी भी बात नहीं कहता जितनी वह बौद्ध प्रसंगों की कहता है, यद्यपि हमें यह बतलाया जाता है कि बुद्ध और महावीरस्वामी लगभग समकालिक से ही थे और जैनधर्म का उदय भी हिंसात्मक ब्राह्मणिक कर्मकांड के प्रति विद्रोह के रूप में ही था। कहा जाता है कि महाभारत के, भिन्न-भिन्न समयों में, तीन संस्करण हुए हैं। हमारा अनुमान है कि इसका मूल संस्करण बुद्ध के बहुत पहले का है और वह उस समय का है जब भारत राष्ट्र का ह्रास हुए बहुत समय बीत चुका होगा, आर्यों की राष्ट्रीय संस्कृति दीन और छिन्न-भिन्न हो रही होगी और अत्यन्त क्षीण स्मृति के रूप में 'भरत' और 'भारत' केवल पौराणिक नाम रह गए होंगे। किसी खोए हुए गौरव और आत्म-विडम्बना की आहभरी याद के साथ किसी वांछनीय राष्ट्रीय सांस्कृतिक संगठन की अलक्ष्य कामना में, जिसमें तत्वनिरूपण की प्रवृत्ति भी परम लक्ष्य है, इस महाग्रन्थ

के अध्ययन-हेतु को ढूँढना क्या बिलकुल निरर्थक होगा? तुलसीकृत रामचरितमानस के रचना-समय और उसकी अन्तरंग मनोवृत्ति को देख लीजिए। आज भी हमारे ऐतिहासिक या पौराणिक उपन्यासों और काव्यों में महाभारत और रामचरितमानस का वैसा-सा ही कोई हेतु-सूत्र नहीं परिलक्षित होता क्या? और यदि हमारा अनुमान सही है तो इस मनोवृत्ति का समय, राष्ट्रीय संस्कृति की दृष्टि से, बुद्ध-युग के बाद का समय नहीं हो सकता। अशोक का सुख-साम्राज्य तभी हुआ था, जिसके बाद फिर गुप्तों की परम्परा आरम्भ होगई थी। और, विडम्बना की दृष्टि से, उस समय कौरवों को लांछित करने के स्थान में बौद्धों और जैनियों को लांछित करने की आवश्यकता ही अधिक थी।

रामायण को तो पाश्चात्य लेखक स्वयं ही बौद्धों से पहले की, अतः महाभारत से पहले की भी, रचना मानते हैं। अपने स्वभाव में रामायण महाभारत से बहुत भिन्न दिखाई देती है। रामायण एक ललित मधुर काव्य है जो जीवन और प्रकृति के सौन्दर्य से विलसित होता हुआ कल्पना के सुख की अनुभूति को अपना लक्ष्य बनाता है। अपनी आध्यात्मिकता में वह परम शक्ति को श्रद्धा का

प्रणाम करता है। उसकी श्रद्धा में रति का योग है जिससे वह परमता मानवता बन गई है। रामायण के समाज को प्रतिक्षण उसे परमता के रूप में देखते-रहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। रामायण की काव्यघटना के विपरीत महाभारत एक बृहत् व्यवहार-ग्रन्थ है जो, इसीलिए, बाद में, एक धर्मशास्त्र की पदवी को भी प्राप्त हो जाता है। वह जीवन के सौन्दर्य को नहीं, उसकी जटिलता और कुटिलता को देखता है जहाँ सुख की नहीं बल्कि कष्ट की अनुभूति है। उसकी परमात्म-शक्ति श्रद्धागति की नहीं बल्कि दर्शन और अर्थवाद की सिद्धि है, जिसकी परमता का ध्यान रखना ही होगा। रामायण के राम परब्रह्म होते हुए भी मनुष्य हैं; महाभारत के कृष्ण मनुष्य होते हुए भी परब्रह्म हैं।

इसका कारण यह है कि दोनों की सामाजिक भूमि में, अतः उनकी प्रेरणा में भी, अन्तर है। जहाँ महाभारत में घोर संघर्षमय जटिल भौतिक जीवन की समस्याओं को लेकर व्यावहारिक राजनीति और कूटनीति की दर्शनसिद्ध उद्भावना हुई है, वहाँ रामायण की पृष्ठभूमि अलौकिक-जैसी है। उसमें यदि राजनीति है भी तो वह एक ऐसे समाज की राजनीति है जो अपनी प्राक्कालीन सुखसंतोष-

मयता में भोलेभाले सत्यधर्म को ही जानता है और कूटनीति से अनभिज्ञ है, क्योंकि अथवा इसीलिए, उसमें पारस्परिक संघर्षों का महाभारतवाला रूप अभी उदित नहीं हुआ है। रामायण का जो संघर्ष है वह भी अलौकिक है क्योंकि वह राक्षसों के साथ है जिन्हें अभी 'मानव'-संज्ञा प्राप्त नहीं हुई है। रामायण के आर्यसमाज के भीतर स्वयं कोई संघर्ष नहीं है, मनुष्य मनुष्य से नहीं लड़ता। परन्तु महाभारत की लड़ाई भारत के अंगों की ही आपसी लड़ाई है—छोटे-छोटे राज्य आपस में लड़ रहे हैं, परिवार लड़ रहे हैं; लोभ, मद, मात्सर्य, कुटिलता, प्रतिशोध आदि से छोटे और बड़े सब के हृदय जर्जर हैं; बली और निर्बल, धनी और निर्धन, सब असुखी हैं। महाभारत के जो राक्षस हैं—कंस, जरासन्ध आदि—वे मनुष्य हो गए हैं।

परिणामतः हम यह भी देखते हैं कि दोनों महाकाव्यों के भगवान् के आचरण में भी ज़मीन-आसमान का अन्तर हो गया है। रामायण का राम मर्यादापुरुषोत्तम होकर मर्यादा की प्रतिष्ठा का उत्तरदायित्व स्वयं अपने ऊपर लेता है और दुष्टों का संहार करने के लिए उनसे लड़ने को स्वयं ही सर्वत्र, समुद्र पार तक, घूमता-फिरता है। उधर कृष्ण स्वयं नहीं लड़ता, जिनकी रक्षा करनी है

उन्ही को वह लड़ना सिखाता है। रामायण के जो पीड़ित हैं, जिनकी विशेष रूप से रक्षा करनी है, वे (गो और) द्विज हैं—यहाँ तपोनिष्ठों की तपस्या और आत्मसाधना की रक्षा करने का भार है। महाभारत के रक्ष्य वे हैं जिनका धनदौलत बलात्कार-द्वारा छीन लिया गया है; उनके धनदौलत की रक्षा करनी है। अतः रामायण का भगवान् महाभारत में अप्रयोज्य है। जब हमी-हम में, कुटिलता के अस्त्रों को लेकर, व्यापक रूप से लड़ाई-झगड़ा होने लगा है तो हमें अपने पथप्रदर्शक के रूप में योद्धा नहीं बल्कि योगेश्वर चाहिए जो तत्समाजोपयुक्त जीवन-सूत्रों का योगनिर्णय कर सके, हमें लीलापुरुषोत्तम, एक ऐसा कूटनीतिज्ञ, चाहिए जो स्वयं तटस्थवत् रहता हुआ दूसरों का सचालन कर सके।

संक्षेप में रामायण की मनोवृत्ति ब्राह्म मनोवृत्ति है, चातुर्वर्ण्य की प्रतिष्ठा रहते हुए भी उसका समाज ब्राह्म समाज ही है। महाभारत की मनोवृत्ति क्षात्र मनोवृत्ति है, उसके समाज को अपने अंगों के सन्तुलन के लिए भी क्षात्रधर्म की जरूरत पड़गई है, और सब से बड़ी बात यह है कि इस क्षात्रधर्म का संचालन आसुरी कूटनीति से ही होने लगा है। रामायण की भूमि सत्वगुणी है. महाभारत

की रजस्तमोगुणी। पाश्चात्य लेखक जो कुछ भी समझें, परन्तु सामाजिक चेतना के विकास की दृष्टि से रामायण की प्राक्कालीनता महाभारत से एक-दो-तीन शताब्दियों की ही नहीं, न मालूम कितनी अधिक शताब्दियों की है जिसका एक मोटा-सा अनुमान करना भी निःसंशय काम नहीं है।

त्रेता और द्वापर की कल्पना में क्या सचमुच इतना अधिक अर्थ भरा हुआ है?

यदि रामयण और महाभारत के सम्बन्ध में ये अनुमान सही हैं तो रामायण को गृह्यसूत्रों और श्रौतसूत्रों के बहुत पहले की रचना मानना होगा। पाश्चात्य लेखक

स्वयं भी सूत्ररचना-प्रणाली को भाषा-प्रणाली की एक अति कृत्रिम और बहुत बाद के विकास की वस्तु मानते है। रामायण में तो स्थान-स्थान पर हमें संगीतात्मक, लिरिकल, रचना का स्वरूप मिलता है। दूसरी ओर महाभारत सूत्रों के बहुत बाद की और बुद्धोदय के पहले की रचना हो जाती है। सूत्रकाल धर्मशास्त्रों के पहले का समय है और धर्मशास्त्रों का उदय आर्यों के गार्हस्थोत्तर सामाजिक-राजनीतिक संगठन-क्रम का समकालिक होना ही सम्भाव्य मालूम होता है। इस दृष्टिकोण से यह उद-यकाल हमारे ऐतिहासिक युग से एक दो शताब्दी पहले तक का समय हो सकता है। रामायण से लगाकर हमारे ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ तक हमें, इस प्रकार, आर्य संस्कृति के कई विकासक्रम प्राप्त होते हैं जिनकी पूर्णा-वधि एक दो सहस्राब्दी तक की समझ लेने में भी कल्पना का एकदम अत्याचार तो शायद नहीं होगा। संस्कृति के इस विकासक्रम में आर्यभाषा अपनी प्रणालियाँ बदलती चलती है, परन्तु उसका रूप वही है जिसका नाम 'संस्कृत' पड़ा है। इस प्रकार ईसोत्तर प्रथम सहस्राब्दी के अन्त तक संस्कृत भाषा का इतिहास लगभग तीन हजार वर्ष का इतिहास बन जाता है।

संस्कृत भाषा को ही किसी समय 'भारती' नाम मिला होगा यह भी सहज अनुमेय है—'भारती' शब्द स्वयं ही संस्कृत है—और यह संस्कृत-भारती भाषा ही महाभारत में वर्णित राजनीतिक समाज-समुदाय के पारस्परिक विनिमयों की भाषा रही होगी। अधिकांश राज-समाज तो पारिवारिक सम्बन्धसूत्रों से भी परस्पर-सम्बद्ध थे। महाभारत का राजसमाज भारत के बाहर तक फैला हुआ था। हम यह भी देखते हैं कि समस्त महाभारत के सूत्रधार श्रीकृष्ण के असंख्य उत्कर्षों में बहुभाषाविज्ञता का कहीं उल्लेख नहीं है। राम की अलौकिकता के कारण उनके विषय में इस प्रश्न पर दृष्टि डालना ज़रूरी नहीं है। राम रामायण के सूत्रधार भी नहीं हैं।

हम यह तो मान ही चुके हैं कि आर्यों की संस्कृति और भाषा में विकारमूल कुछ विजातीय तत्वों के आगमन से जब कोई विशेष संकट या संशय पैदा हुआ होगा तभी धीरे-धीरे संस्कृत की प्रतिष्ठा हुई होगी। संस्कृत की प्रतिष्ठा से इस प्रकार के तत्वों का संचार स्थगित होगया होगा। महाभारत में वर्णित राजनीतिक वातावरण में इन तत्वों के स्थानीय होजाने की सम्भावना किसी अंश में शायद मान ली जा सके, परन्तु राजनीति की विच्छेद-

भावनाओं के साथ ही साथ उस समय के समस्त राजसमाज में आर्यजातीय मौलिक अध्यात्म-संस्कृति का योगसूत्र भी सहसा विच्छिन्न होगया हो, सो बात नहीं थी। (मोटा उदाहरण धर्मयुद्ध की कल्पना का है जिसका अनुसरण अन्यायी भी करता था। हमें बतलाया गया है कि सायंकाल को युद्ध समाप्त होने पर लड़नेवाले रात में आपस में मिला-जुला करते थे।) उस समय के पारस्परिक विद्रोह अर्थवाद को लेकर थे, संस्कृति को लेकर नहीं। यदि कुछ स्थानीय सांस्कृतिक विच्छेदतत्व यत्र-तत्र पैदा हो भी गए हों तो वे इतने बद्धमूल कदापि नहीं हुए थे कि मूल और व्यापक आर्यसंस्कृति से अलग किसी स्वतंत्र रूप में वे प्रकट हो सकते। संस्कृति की वाहनीभूत आर्य (संस्कृत) भाषा के ऐकाधिपत्य में घरेलू विचार-विनिमय के कोई स्थानीय साधन भी, भाषा तो क्या, बोली के रूप में भी अच्छी तरह अंकुरित न हो पाए होंगे।

महाभारत की रचना के समय अवश्य इस बात की कुछ सम्भावना पाई जा सकती है कि स्थानीय बोलियाँ अपना कुछ-कुछ रूप निर्धारित करने लगी हों। संस्कृति के इतिहास में इस तरह की बोलियों का पहला महत्त्वपूर्ण अंगीकरण बौद्ध और जैन धर्मों के आरम्भ के साथ हुआ

है। धर्मप्रचार की व्यापकता के उद्देश्य को सामने रख कर बुद्ध ने समस्त विशाल समाज का लक्ष्य किया था, न कि केवल संस्कृत समाज का। इसलिए उन्होंने अपने प्रान्त के जनसाधारण की घरेलू बोली में ही कहना आरम्भ किया। यह बहुत संभव है कि एक विशेष भाषा के अभिधान में 'पाली' शब्द का प्रयोग बौद्ध धर्म के प्रचार के बाद ही हुआ हो—यद्यपि यह हो सकता है कि उससे पहले इस शब्द का प्रयोग 'ग्रामीण' के अर्थ में संस्कृत-समाज द्वारा होता रहा हो। ऐसा ही सा कुछ तर्क प्राकृत और जैनधर्म-प्रचार के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है। जिस प्रकार कुछ लोग पाली का सम्बन्ध 'पल्ली' (ग्राम) शब्द से जोड़ते हैं उसी प्रकार कुछ लोग प्राकृत को प्रकृति (प्रजा, सर्वसाधारण) की वाणी बतलाते हैं। आर्यों के लम्बे-चौड़े इतिहास में 'प्राकृत' और 'पाली' दो पहले नाम हैं जो सांस्कृतिक भाषा की अद्वितीय धारा से कट कर किसी स्वतंत्र प्रवाह की चेष्टा की सूचना-सी देते हैं।

तथापि, क्या वे सचमुच ही ऐसी सूचना देते हैं? जिस बल और आवेश के साथ पाली ने तेज़ी से फैलते हुए बौद्ध धर्म का सहारा लेकर अपना आरोपण किया था उसे देखते हुए तो यहाँ तक भी सम्भव हो सकता था कि

प्राकृत के साथ मिल कर वह संस्कृत को एकदम ही अपदस्थ कर देती। उस समय तो साहित्य के नाम पर संस्कृत में रामायण-महाभारत को छोड़ कर और कुछ क्या था? जो कुछ रहा हो वह, कौन जाने, पाली प्राकृत के ही रौले में, अथवा अपनी ही अत्यन्त असमर्थता के कारण, कहीं विलुप्त होगया। जो ब्राह्मणिक (धार्मिक-दार्शनिक) साहित्य था वह, प्रकट में, बौद्ध धर्म की नई विचारधारा से अत्यन्त प्रधर्षित था। परन्तु, यह सब होते हुए भी, हमें दिखाई देता है कि, संस्कृत तो अपदस्थ नहीं होती; प्रत्युत पाली ही, अपने उदयावेश के शीघ्र बाद ही, बौद्धों की 'पवित्र वाणी' (Sacred language) के रूप में पुरानी पड़ कर अवसन्न हो जाती है। क्या यह विस्मय की बात नहीं है कि बुद्ध के दो-तीन शताब्दी बाद ही बौद्ध अश्वघोष अपने 'बुद्धचरित' को पाली में न लिख कर संस्कृत में लिखता है? उसी समय के आस-पास का दिङ्नाग का 'कुन्दमाला' नाटक है, जो संस्कृत में है। कुछ लोगों का मत है कि यह दिङ्नाग प्रसिद्ध बौद्ध दिङ्नाग ही था। यदि यह अनुमान सच है तो दिङ्नाग ने अपना नाटक पाली में न लिख कर संस्कृत में क्यों लिखा? सब से बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि बौद्ध प्रचार की

बाद उतरते ही संस्कृत ललित साहित्य के रूप में एकदम पल्लवित हो उठती है और ईसा से पहले-पहले हम अश्वघोष दिङ्नाग, भास, कालिदास* आदि को देख लेते हैं। अन्यथा होता तो यह चाहिए था कि जैन तथा बौद्ध प्रचार के संजीवन द्वारा जब लोकवाणियाँ (पाली और प्राकृत) एकाएक उठ खड़ी हुईं तो लोकरंजक काव्य-साहित्य का विकास भी उन्हीं के द्वारा होता।

इससे तो यह प्रतीत होता है कि पाली और प्राकृत के नामों के द्वारा आर्यों की सांस्कृतिक भाषा में से किन्हीं

---

* पाश्चात्य लेखक कालिदास को भारतीय संस्कृति के इतिहास में इतना जल्दी नहीं देखना चाहते और उसे ईसोत्तर छठी शताब्दी के आस-पास रखना चाहते हैं परन्तु उनका आत्मगौरव और जातिगौरव आर्यसंस्कृति को ही कब बहुत पुराना मानना चाहता है। उसे अधिक पुराना न मानना उनका राजधर्म है, शासन और राजनीति का एक आवश्यक प्रसाधन है। पाश्चात्यों ने प्राचीन आर्य साहित्य के अध्ययन में निस्सन्देह बड़ा परिश्रम किया है परन्तु उन्होंने विशेषत. अँग्रेज और अमरीकन लेखकों ने अपनी-पक्षपातभावना को छिपाने की चेष्टा तनिक भी नहीं की है।

स्वतंत्र प्रवाहों के कट निकलने की सी किसी सूचना का जो आभास मिलता है वह यथार्थ नहीं है। कारण इसका स्पष्ट है। संस्कृत आर्यों की सांस्कृतिक भाषा थी और जैन और बौद्ध भी आर्य ही थे। आर्य संस्कृति के विपक्ष में उन्होंने उससे भिन्न किसी नई संस्कृति को लाकर खड़ा किया हो, इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जैन और बौद्ध धर्मों का प्रेरणासूत्र जटिल ब्राह्मणिक कर्मकांड और उसकी हिंसात्मकता के विद्रोह में ही हमें मिलता है। जैन और बौद्ध धर्मों का उदय तथा आन्दोलन वस्तुतः आर्यसंस्कृति की व्यापकता की ही एक लहर थे। आर्य संस्कृति सदा इतनी विशाल रही है कि उसमें समय-समय पर अनेक शाखा-प्रशाखाओं का फैलता रहना स्वाभाविक बात है। इसके साथ ही अनेक शाखा-प्रशाखाओं के होने पर भी वह अपने भीतर किसी की भी संकीर्णता को सहन नहीं कर सकती। फलतः जब ब्राह्मणिक कर्मकांडादिक में संकीर्णता इतनी बढ़ने लगी कि उस संस्कृति का रूप सिकुड़ कर कर्मकांडादिक में ही संकुचित हो जाने का भय हुआ तो संस्कृति की विशालता ने जैन और बौद्ध रूप में विद्रोह किया। दूसरे शब्दों में, जैन-बौद्ध-धर्मरूपी यह विद्रोह आर्य संस्कृति का ही एक आन्दोलन था जो

उसमें फैलते हुए एक आचरणविशेष के विरुद्ध उसी के भीतर से उठा था। अपने छोटे रूप में इसी तरह के आन्दोलन प्राय: परिवारों में भी देखने को मिल जाते हैं जब परिवार के कुछ लोग पारिवारिक रूढ़ियों के विरुद्ध आचरण करने लगते हैं अथवा जब परिवार के किसी व्यक्ति को पारिवारिक रूढ़ियाँ असमीचीन मालूम होने लगती हैं। यदि देखा जाए तो किसी विशाल संस्कृति के भीतर इस तरह के आन्दोलनों का यथावसर होते रहना बड़ा उपयोग रखता है। वह उस संस्कृति के किन्हीं विशिष्ट अंगों में रूढ़ होती हुई ऐकदेशिक विलक्षणताओं को बद्धमूल होने से रोकता है, जिनके बद्धमूल हो जाने पर साम्प्रदायिकताओं के रूप में, विस्तृत सामाजिकता के छिन्न-भिन्न होने और धीरे-धीरे रूपान्तरित होजाने की ही आशंका पैदा हो सकती है।

जैन और बौद्ध आन्दोलनों को धर्म का नाम इसीलिए दिया जाता है कि उनमें प्रचार, सगठन और विशालता का समावेश था। अन्यथा उनका स्वरूप वही है जो आर्यों के षड्दर्शनों या अधिक-से-अधिक आजकल दिखलाई देनेवाले अनेक सम्प्रदायों का है। एक दूसरे से कुछ-न-कुछ भिन्न होते हुए भी ये दर्शन और सम्प्रदाय आर्य-

संस्कृति से अलग नहीं हैं। उसी तरह जैन और बौद्ध धर्म भी अपने संस्कृतिरूप में आर्यता का ही एक विकास है। आर्य संस्कृति मूलतः अध्यात्म-संस्कृति है, जिसका विचार-केन्द्र मोक्ष-साधना है। रहस्यात्मक होकर यह साधना ईश्वरोन्मुखी होजाती है जो आदिम आर्य की प्रारम्भिक कौतूहल-जिज्ञासा के विकास में बहुत कुछ स्वाभाविक-सी बात है। यह श्रद्धा की प्रणाली है। सामाजिकता के बहुमुख विस्तार में वह व्यावहारिक रूप भी धारण करती है, जिसमें ईश्वर का योग अनिवार्य नहीं रहता। यह ज्ञान-प्रणाली है। आर्यों के दर्शनों ने स्वय ईश्वर के सम्बन्ध में अनेक तर्क-वितर्क किए हैं, यहाँ तक कि आत्मवाद के परिणाम में ईश्वर, ज्ञान के आश्रय पर, परमात्मा बन कर एक तत्व का रूप-भर रह गया है।

जैन और बौद्ध आन्दोलन आर्य संस्कृति से बहिर्गत तो थे ही नहीं, उनकी प्रवृत्ति भी आर्यसंस्कृति से अपने को विच्छिन्न करने की नहीं थी। इसके अनेक संकेत हमें खोजने से मिल जाते हैं। 'कुन्दमाला' के जिस रचयिता का ऊपर उल्लेख हुआ है, वह यदि बौद्ध दिङ्नाग ही था तो उसके नाटक में उत्तर-रामचरित की कथा को देख कर क्या हमें आश्चर्य नहीं होगा? पर नहीं; बौद्धों के पवित्र

धर्मग्रन्थों में भी–दशरथजातक में–हमें रामायण की कथा मिलती है। और एक बहुत बड़ी बात तो यह है स्वयं आर्यसंस्कृति की प्रवृत्ति भी बौद्धों और जैनों को अपने से विजातीय समझने की नहीं रही। अतः कालान्तर में भगवान् बुद्ध की भी आर्यों की अवतार-सूची में ही गणना होने लगी। इधर, हम देखते हैं कि जैनों और हिन्दुओं में, हजारों वर्ष बीत जाने पर भी, सामान्य व्यवहार का इतना अभेद बना हुआ है कि दोनों में, उनके रूढ़िगत धार्मिक आचरण को छोड़ कर, कहीं भी कोई विभेदचिन्ह ढूँढ पाना असम्भव-सा है।

इन सब बातों को देखते हुए तब यह सहज ही समझ में आजाता है कि बौद्ध और जैन धर्मों के प्रचारबल से किसी पदवी को प्राप्त करके भी पाली और प्राकृत का संस्कृत से स्वतंत्र भाषाओं के रूप में प्रतिष्ठित न हो पाना अस्वाभाविक न था। इस बात को एक बार पुनः दोहरा देने में कोई हर्ज नहीं है कि बौद्धों और जैनों का, पाली तथा प्राकृत को स्वीकृत करते हुए भी, अपनी किसी स्वतंत्र संस्कृति और स्वतंत्र सांस्कृतिक भाषा को उपस्थित करने का कोई उद्देश्य नहीं था। इसीलिए अपने धर्मप्रचार की भाषा को उन्होंने कोई प्रादेशिक नाम देने की भी चेष्टा

नहीं की है —उतनी भी नहीं जितनी कि शायद 'भारती' नाम में हमको मिल सके। पाली और प्राकृत भी वैसे ही वर्णनात्मक नाम हैं जैसे कि 'भाषा' 'वाक्' आदि। वे केवल भाषा के उभयपक्ष को—प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष हुआ करते हैं—विस्पष्ट करते हुए संस्कृत के प्रतिमंवादी दूसरे रूप की हैसियत से हमारे सामने अपने अस्तित्व को प्रकट करते हैं।

सो, इस प्रकार जैन-बौद्ध-धर्मोदय के परिणाम में हमें दो बातें देखने को मिलती हैं—(१) धर्मप्रचार की प्रेरणा से पाली और प्राकृत बोलियों का धर्मविशिष्ट-सम्बन्धी भाषाओं के रूप में उदय, और (२) उसके अधिक से अधिक दो तीन शताब्दी बाद संस्कृत भाषा की आवेशमय प्रवृत्ति जो विलक्षण तरीके से अब ललित साहित्य को प्रोत्तेजना देनेवाली हुई। इन दोनों बातों के बीच की एक और भी उल्लेखनीय घटना है—पाणिनि के व्याकरण की रचना। पाणिनि के पहले के और भी व्याकरणकारों का उल्लेख मिलता है। परन्तु उनके व्याकरण या तो परिपूर्ण न रहे होंगे, या उनके और पाणिनि के बीच में समय का अति दीर्घ अन्तर पड़ जाने के कारण भाषा में कुछ ऐसा परिवर्तन होगया होगा कि पाणिनि को स्वयं

व्याकरण बनाने की आवश्यकता अनुभूत हुई। जो हो, उन सब के नाम को भूल कर आज हम पाणिनि के व्याकरण को ही जानते हैं।

पाणिनि के व्याकरण का अत्यन्त समादर हुआ। इससे एक ओर तो इस बात की सूचना मिलती है कि पाणिनि के समय तक सामाजिक आर्य भाषा अपने प्रयोगों में कितनी समृद्ध होगई थी और उस समय तक कितने अधिक साहित्य का प्रचार हो चुका होगा (जो दुर्भाग्य से अब विलुप्त है), और दूसरी ओर इस बात की कि उसके व्याकरण के बाद, शायद किसी अंश में उसी के कारण, नवसाहित्यसृजन को कितनी प्रेरणा मिली। प्रेरणा के मूल में सामाजिक प्रतिक्रिया का हाथ हो सकता है जिसमें, जैन-बौद्ध-आन्दोलनों के हो चुकने के बाद, सांस्कृतिक चेतना को अक्षुण्ण रखने की समाज-चेतना सक्रिय रही होगी। अश्वघोषादि के उदाहरण से हम कह सकते हैं कि बौद्ध और अबौद्ध सभी का इस चेतना में हाथ रहा होगा। चेतना को बल देने और सजग रखने के लिए यदि किसी आधारस्तम्भ की आवश्यकता रही होगी तो वह पाणिनि के व्याकरण से पूर्ण हो गई थी। पाणिनीय व्याकरण का इतना समादर होने का यही कारण है।

वह इतना समादृत हुआ कि उसका एक आतंक सा जम गया, यहाँ तक कि बाद में, शताब्दियाँ बीत जाने पर भी किसी नए व्याकरण का आविर्भाव न हो सका—उसकी आवश्यकता ही न पड़ी। पता नहीं, संस्कृत का 'देववाणी' नाम कब पड़ा था: परन्तु यदि यह मालूम हो कि वह लोकवाणी (पाली और प्राकृत) से भेद प्रकट करने के लिए पाणिनि के बाद पड़ा तो कोई आश्चर्य करने की बात न होगी।

फिर तो संस्कृत की गति इतने तीव्र और अबाध वेग से चल निकलती है कि, जिसका कोई प्रति-द्वन्द्वी नहीं है ऐसे, मध्यान्ह सूर्य की भाँति जीवन के कोने-कोने को उसकी किरणें प्रकाशित कर देती हैं। वह सर्वतोमुखी रूप में प्रसरित होती है और न्यूनाधिक एक हज़ार वर्ष तक बराबर स्फीत से स्फीततर होती हुई आगे बढ़ती जाती है। संसार की किसी सभ्य-से-सभ्य और सम्पन्न-से-सम्पन्न भाषा को अपने अभिन्न रूप और अच्छिन्न धारा का इतना लम्बा इतिहास मयस्सर नहीं हो सका है। इस अवधि में सबसे अधिक श्रीवृद्धि ललित साहित्य की—काव्यात्मक गद्य-पद्य-साहित्य की, जिसमें भी नाटक और महाकाव्य का स्थान सर्वोच्च है—तथा साहित्यशास्त्र की

हुई है। यह श्रीवृद्धि सार्वदेशिक है। काव्य और नाटक लोकरंजक साहित्य के दो प्रधान रूप हैं, जिनमें नाटक की प्रवृत्ति तो अधिक से अधिक सर्वसामाजिक होती है। शास्त्र का प्रणयन किसी वस्तु या आचरण की सर्व-सामाजिकता का खुला हुआ सार्टिफिकेट या प्रमाणपत्र है। और कितने काव्य, कितने नाटक, कितनी शास्त्ररचना!—दूसरे साहित्यप्रकारों की तो बात ही छोड़ दीजिए—समय-चक्र में भयंकरता से विलीन हो जाने के बाद भी क्या उस तमाम की कोई गिनती है? और यह सब उस समय के साहित्य की बात है जब कि प्रेस और रेल का नाम तक न था, जिस समय व्यक्तियों में सामूहिक संस्कृति की एक विशाल सजग चेतना के अतिरिक्त प्रचार का दूसरा कोई अति सुकर साधन न था। आजकल के परतन्त्र प्रान्तों की संख्या से कहीं अधिक संख्या रखने वाले स्वतंत्र राज्यों की इकाइयों में उस समय का भारतवर्ष बँटा हुआ था। तथापि अपनी सामाजिक भाषा की दृष्टि से वह किस सीमा तक अविभक्त था! कहावत है कि किसी समय में, जब राजा भोज राज्य करता था, धारानगरी के तेली और घास खोदनेवाले तक शुद्ध संस्कृत बोलते थे। संस्कृत को कृत्रिम अव्यवहार्य भाषा कहनेवाले महानुभाव इन सब बातों

पर ध्यान दे सकते हैं।

और, ध्यान देने की और भी बड़ी बात प्राकृतों का सहयोग है। प्राकृतों का सहयोग था, इसीलिए संस्कृत का जीवन-इतिहास इतना दीर्घकालिक और सम्पन्न हो सका। जैन और बौद्ध आन्दोलनों से प्राकृतों को कुछ साहित्यिक-भाषात्मक—प्रवृत्ति मिल चुकी थी। यह प्रवृत्ति भी उस समय के साहित्य-समाज की चेतना का स्पर्श किए बिना कैसे रह सकती थी? प्राकृतों को भी साहित्य में स्थान मिला, जिसके परिणाम में उनके व्याकरण भी बने किन्तु उस युग की सामाजिक भावना इतनी सर्वत्रव्यापिनी और प्रबल थी कि स्वतंत्र राज्यों की इकाइयों के होते हुए भी, साहित्यिक प्राकृतों की प्रवृत्ति उस समाज की केवल उपचेतना ही बन सकी। और, अपने इस उपपद का कोई विरोध न कर वह चिरकाल तक सार्वत्रिक संस्कृत-चेतना की सहायिका ही बनी रही। गौण नाटकीय पात्रों के वार्तालाप के रूप में उसने संस्कृत नाट्यसाहित्य के रूप को विशेषतापन्न बनाया और स्वयं उसका शोभनीय शृङ्गार बनी। प्राकृतों के प्रति सार्वत्रिक भावना का व्यवहार इस रूप में दिखाई देता है कि उसने प्राकृतों को भी, उनके प्रादेशिक रूपों के होते हुए भी, सार्वत्रिक ही बना लिया।

नाटकीय कथोपकथन में प्राकृतों को स्थान देने का नियम बनाना तथा देशकाल के भेद को त्याग कर सब प्राकृतों को भिन्न-भिन्न स्थिति के पात्रों के उद्देश्य से एक ही नाटक-रचना में उपयोगी बनाना इस सार्वत्रिकता का रूप था। अलग-अलग स्थिति के पात्रों के मुख में अलग-अलग प्राकृतों को रखने मे उन प्राकृतों के अपने-अपने सामाजिक सांस्कृतिक विकास की अपेक्षा थी। परन्तु इस अपेक्षा में वैमनस्य न था, इसलिए अलग-अलग प्राकृतों के सम्बन्ध का यह व्यापक विधान विभिन्नप्रान्तीय सामाजिकों को भी स्वीकृत रहा। इससे प्राकृतों का गौरव यों बढ़ा कि सर्वसामाजिकों के लिए—चाहे वे किसी देश के भी हों—सब या अधिकांश प्राकृतों का ज्ञान बहुत-कुछ आवश्यक-सा था। नाट्य-कवियों के लिए तो वह अनिवार्य ही था। प्राकृत व्याकरणों का उन्हीं के लिए सबसे अधिक उपयोग रहा होगा। इस बात को देखते हुए व्याकरणों में सार्वत्रिकता का रूप यह मिलता है कि हमारे उस समय के साहित्य में अलग-अलग प्राकृतों के अलग-अलग व्याकरणग्रन्थ नहीं पाए जाते; जो पाए जाते हैं उन सबमें सभी प्राकृतों की रूपमीमांसा देखने में आती है। यदि उस समय की नाट्यरचना में दर्शनीयता या अभिनय का भी

कोई विशेष आग्रह रहता होगा तो वह तत्समाज की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना और उपचेतना की सार्वत्रिकता का एक और बड़ा प्रमाण हमारे सामने उपस्थित करेगा।

संस्कृत को चिरजीवन प्रदान करनेवाली दो सांस्कृतिक परिस्थितियों को कारणरूप में हम देखते हैं। जैन-बौद्ध आन्दोलनों ने, हमने देखा है, यद्यपि प्रत्यक्ष में प्राकृत और पाली को अपने प्रचार-माध्यम के लिए स्वीकार किया था, तथापि अपने सम्यक् समस्त रूप में वे आर्य संस्कृति की विशालता का ही एक नव जागरण थे। उनके रूप में आर्य संस्कृति ने जैसे अपने-आप को चुनौती दे डाली थी। दूसरी परिस्थिति इस चुनौती की प्रतिक्रिया के लिए निमित्तमात्र बन कर पाणिनि के व्याकरण के रूप में उपस्थित हुई जिसके सहारे को पाकर 'देववाणी' की भावना ने संस्कृत को स्थैर्य प्रदान किया। इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरी परिस्थिति कतिपय राजनीतिक आन्दोलनों की भी थी जिनका साक्ष्य इतिहास से मिलता है। जैन-बौद्ध आन्दोलनों के बादसे ही, ईसा का आठवीं-नवीं शताब्दी तक, एक विशाल भारत का लक्ष्य सिद्ध करनेवाले कई महासाम्राज्य देखने में आते हैं। अशोक के साम्राज्य

गुप्तों के साम्राज्य और वर्धनों के साम्राज्य ने अवश्य ही आर्य संस्कृति के बिखरते हुए तन्तुओं को पुनः बटोर कर एकसूत्र करने में बड़ा काम किया होगा।

इन सब के बाद हम एक-दो बातों पर और भी गौर कर सकते हैं जो एकदम इतिहास-सिद्ध तो नहीं, परन्तु किसी अंश में शायद कल्पनीय अवश्य हैं और जिनका संस्कृति-निर्णय में काफ़ी हाथ हो सकता है। संस्कृति पर शासन का भी काफ़ी प्रभाव पड़ता है। कहावत भी है—'यथा राजा तथा प्रजा'। भारतीय संस्कृति को मुसलमानों तथा अंग्रेज़ों के शासन ने जो थोड़े-बहुत अंश में प्रभावित किया है उसे हम अपनी आँखों से देख रहे हैं। शासन और सामाजिक संस्कृति का यह सम्बन्ध और भी घनिष्ठ होना स्वाभाविक है जबकि शासक और शासित एक ही संस्कृति के और एक ही जाति के हों। शासन यदि सजातीय है और यदि उस पर अन्य संस्कृतियों का कोई अधिक प्रभाव नहीं पड़ा है तो वह जाति की मौलिक संस्कृति को चिरसमय तक अक्षुण्ण रख सकता है। हिन्दू भारत में शासक और शासित का सम्पर्क अधिक घनिष्ठ भी रहा होगा, ऐसी आशा हम प्राचीन संस्कृति के आश्रय से अनुमेय परम्परागत आर्य जीवन के मूल सिद्धान्तों के

आधार पर कर सकते हैं। उस ज़माने में राजा और प्रजा का विच्छेद इतना तो कदापि नहीं हो सकता था जितना कि आजकल देखने में आता है, क्योंकि हिन्दू युग के हिन्दू राजाओं में राजमर्यादा का स्वरूप अतिरंजित राजमद शायद न रहा होगा। रामराज्य की बात तो बहुत पुरानी थी, परन्तु रामायण और महाभारत हिन्दू जीवन को बराबर स्फूर्ति देते रहे हैं, जिसका प्रमाण हमको संस्कृत के बाद तक के साहित्य से मिलता है। परन्तु ऐतिहासिक हिन्दू-युग में भी एक ओर अशोक का, और दूसरी ओर हर्षवर्धन तथा उसकी बहन का, व्यक्तित्व हमारे सामने है।

दूसरी बात यह है कि हिन्दू-युग में संस्कृति की संरक्षकता का भार, जैन-बौद्ध आन्दोलनों के झटके के बाद भी, बहुत-कुछ ब्राह्मणों के ऊपर ही बना रहता है। तपः साधना और ब्रह्मजिज्ञासा की सामान्य ब्राह्मणिक चर्चा का युग बीतने के बाद उसका स्थान धर्म ने ले लिया था और सूत्रों तथा धर्मशास्त्रों के युग में ब्राह्मण स्वभावक्रम से धर्मकार बन गए थे। तब स्वाभाविकतया वे ही राजाओं के मंत्री भी बनते थे। ब्राह्मणत्व और मंत्रित्व का एक प्रकार का पारस्परिक निसर्ग-सम्बन्ध सा बन गया था। चन्द्रगुप्त के प्रसिद्ध मंत्री की कथा तो हम जानते ही हैं;

बाद के लौकिक साहित्य से भी इस सम्बन्ध की पुष्टि होती है। नाटकों में आए हुए राजनायकों के मंत्रियों का भी जहाँ ज़िक्र है वहाँ वे ब्राह्मण ही बतलाए गए हैं। कादम्बरी के तारापीड़ का मन्त्री भी ब्राह्मण ही था। संस्कृति के इन ब्राह्मण संरक्षकों की भाषा देववाणी ही थी। नाटकों में भी राजा और मंत्री संस्कृत ही बोलते थे। आर्य संस्कृति और उसकी भाषा के इस सम्बन्ध को बल देने वाले उदाहरणों में ब्राह्मण शंकराचार्य की दिग्विजय का भी नाम लिया जा सकता है।

३

आर्य संस्कृति और आर्य भाषा की सर्वसामाजिकता के इस लम्बे अविच्छिन्न इतिहास में अवच्छेद के चिन्हों का प्रथम सूत्रपात ईसा की नवीं शताब्दी में होता है। पहली बार ही इस समय आर्य संस्कृति के इतिहास में यह होता है कि प्राकृत भाषाएँ जो, जैन-बौद्ध आन्दोलनों के कारण किसी प्रकार की निजी सत्ता की ओर उन्मुख होकर भी, अभी तक संस्कृति की उद्देश्यसामान्यता में संस्कृत की ही सहधर्मिणी बनी हुई थीं अब धीरे-धीरे अपने को संस्कृत से विलग करने की कुछ बात सोचने लगी है।

धीरे-धीरे इसके बाद संस्कृत और प्राकृतों में बिलकुल विच्छेद हो जाता है।

संस्कृत और प्राकृतों के विच्छेद के दो मुख्य कारण हमें दिखाई देते हैं। नवीं शताब्दी में उत्तर-भारत की राजनैतिक स्थिति शायद इतनी कमज़ोर-सी थी—छोटी-छोटी रियासतें बहुत थीं—कि उसके कारण वह अपनी संस्कृति की एकसूत्रता को किसी संकट के समय अबाध रखने में अक्षम हो चला था। नवीं शताब्दी से आर्य संस्कृति की अबाध व्यापकता को विक्षुब्ध करनेवाले मुसलमानी हमले आरम्भ होने लगते हैं और कहीं-कहीं मुसलमान थोड़े-थोड़े ठहरने भी लगे हैं। यह भी पहली बार ही आर्य संस्कृति के इतिहास में होता है कि इस प्रकार के विदेशी आक्रमणों को प्रत्यावर्तित करने में आर्य लोग बार-बार असफल होते हैं और इसलिए ये हमले धीरे-धीरे भारतीय इतिहास की एक स्थायी विरूपता का लक्षण बनते जाते हैं।

भारत में मुसलमानों की क्रमशः वर्धमान प्रतिष्ठा के कारण जब हिन्दू-युग अपनी अन्तिम सीमा को पहुँचने लगा तो सार्वभौमिक आर्य या हिन्दू संस्कृति में भी विषमता आने लगी। उसके एक अंग और दूसरे अंग में

विच्छेद अधिकाधिक बढ़ने लगा। राज्यों के आपसी युद्ध-यद्यपि हिन्दू भारत में भी होते थे तथापि उनकी लड़ाइयाँ राजनीतिक लड़ाइयाँ होती थीं, सांस्कृतिक नहीं, क्योंकि लड़नेवालों की संस्कृति एक ही रहती थी। मुसलमानों के साथ युद्ध में विरोधी संस्कृतियों का भी द्वन्द्व था। इसका एक प्रमाण यह है कि मुसलमानों के प्रारम्भिक उद्देश्य में राजनीति का कोई विशेष तत्व न था। वे अधिकतर लूटपाट करने के लिए ही आते थे। और जिस ओर मुसलमानों का अभियान होता था उस ओर के राजाओं पर ही उस अभियान का सारा भार भी पड़ता था। प्रादेशिक बोलियों की सत्ता ने भी, जिससे प्रादेशिक व्यवहार की कुछ आंशिक एकांगिता की सूचना मिलती है, आर्य संस्कृति की अविच्छिन्नता मे विषमता का इतना-सा सूत्रपात तो कर ही दिया था कि विरूप संस्कृतियों के आक्रमण होने पर समस्त आर्यता उसके विरुद्ध कभी भी नहीं खड़ी हो पाई। और फिर, ज्यों-ज्यों मुसलमान एक-एक स्थान में बसते भी गए त्यों-त्यों एक प्रदेश और दूसरे प्रदेश की सांस्कृतिक और व्यावहारिक पारस्परिकता भी अधिकाधिक कम होने लगी। तभी से धीरे-धीरे संस्कृत का भी ह्रास होने लगा और प्रादेशिक प्राकृतें

स्वतंत्र भाषाएँ बनने लगीं।

मुसलिम आक्रमणों के अतिरिक्त संस्कृत-प्राकृत में विच्छेद होने का दूसरा कारण वही पाणिनीय व्याकरण है जिसने पहले संस्कृत को चिरजीवन दिया था। यथार्थ में पाणिनीय व्याकरण केवल परोक्ष कारण है और इसलिए निर्दोष है। मूल कारण पाणिनि के बाद के समाज की वह देववाणी-सम्बन्धी भावना है जिसने पाणिनीय संस्कृत को उसके व्याकरण के स्तम्भ से बाँध कर स्पन्दनहीन बना दिया। यदि पाणिनीय संस्कृत चिरशताब्दियों तक जीवित रही है तो केवल अपने सामाजिकों की सम्मान-भावना के बल पर, अपनी किसी निजी जीवनी-शक्ति के बल पर नहीं। यही कारण है कि पाणिनि के बाद संस्कृत का कोई व्याकरणकार ही नहीं हुआ। आवश्यकता ही न पड़ी। जिस व्याकरणशास्त्र को वैदिक ऋषियों ने अंकुरित और विकसित किया था उसका, पाणिनि के भक्तों के कारण, पाणिनि से ही अन्त हो गया। परिणामतः इसका दूसरा स्वरूप यह हुआ कि प्रान्तीय बोलियाँ—प्राकृतें—यद्यपि संस्कृत का उसके जीवनभर साथ देती रहीं, संस्कृत उनका साथ आगे तक न दे सकी। यदि वह साथ देती रहती तो वह भी अपना रूप प्राकृतों के साथ-साथ उनके अनुरूप

ही ढालती चलती, जिससे प्राकृतों की स्वरूपता इतनी स्पष्ट न होती कि वह आसानी से विभिन्नता का रूप ग्रहण कर सकती। उस सूरत में, सम्भव है सांस्कृतिक एकसूत्रता के साथ-साथ भारतीय राज्यों का एकराष्ट्रीय आधार भी कुछ अधिक सुदृढ़ रहता। संसार के इतिहास में इस बात की सिद्धि के कई उदाहरण हैं। वैदिक भाषा—यह भी संस्कृत ही, वैदिक संस्कृत, थी—में अपने को ढाल सकने की प्रवृत्ति थी, जिससे कि ढलते-ढलते उसका लौकिक (Classical) संस्कृत का रूप बन गया। इस ढाल सकने के पीछे जो सांस्कृतिक धारा का प्रवाहैक्य था उसके कारण ही उस समय का भारत अपने युग के अत्यन्त भीषण परदेशी आक्रमणों के सामने भी अटल खड़ा रह सका। अमरीका के राष्ट्रों को संयुक्त रखने में संयुक्त राष्ट्र को बनानेवालों के सांस्कृतिक ऐक्य की प्रतीक उनकी अंग्रेज़ी भाषा एक मुख्य कारण है—उनकी राष्ट्रीय एकसूत्रता का स्तम्भ है—जिससे दिनों-दिन उनकी समृद्धि बढ़ती जा रही है। इंग्लैंड में भिन्न-भिन्न जातियों (सैक्सन, नार्मन आदि) की संस्कृति में जब एकता आई तभी उनकी एक भाषा, अंग्रेज़ी, भी बनी और तभी वहाँ राष्ट्रीय संगठन और शान्ति का रूप निर्धारित हुआ।

इस प्रकार मुसलमानी हमलों और पाणिनीय संस्कृत की अस्पन्द जीवनगति के परिणाम में आर्य संस्कृति और आर्य भाषा की एकता प्रादेशिक खंडों में बहुशः हो गई। इस बहुलता की क्रिया को हमने 'मागधी' 'शौरसेनी' आदि नामों से चली आती हुई उपभाषाओं द्वारा धीरे-धीरे संस्कृत के अपदस्थ होने में देखा। मागधी, अर्धमागधी शौरसेनी और महराष्ट्री नाम प्रादेशिक हैं। भाषावैज्ञानिकों के बतलाए हुए नियम के अनुसार थोड़े-थोड़े प्रादेशिक अन्तर पर बोलचाल की भाषा के रूपों का भी अलग-अलग होता जाना स्वाभाविक है। प्राकृतों से पहले जो इस तरह के असंख्य बेनाम भाषा-स्वरूप रहे होंगे उनमें से कुछ को समय पाकर पास-पड़ोस के प्रदेशों अथवा राज्यों के पारिस्परिक सम्बन्ध और तदुचित पारस्परिक कार्य-व्यवहार के कारण उस व्यवहार-क्षेत्र की प्रादेशिक व्यापकता प्राप्त होगई। जो स्थल इस प्रकार के व्यवहार-क्षेत्रों के केन्द्र बने उन्होंने उन व्यवहारों तथा व्यवहार की भाषाओं को नागरिकता प्रदान की, जिससे उन भाषा-ओं के नाम 'मागधी' आदि पड़ गए। नामकरण से उनमें व्यक्तित्व का आरोप हुआ जो आठवीं-९वीं शताब्दी की अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर व्याप्ति के अङ्गभङ्ग का हेतु

बन गया।

व्याप्ति के अंगरूप में रहती हुई मागधी आदि उप-भाषाओं में व्याप्ति की अंगशक्ति ही थी, व्याप्ति की पूर्ण शक्ति नहीं, उसी प्रकार जिस प्रकार शरीर का कोई अंग समस्त शरीर की कर्तव्य-शक्ति से हीन रहता है। शरीर का साथ देते रहने से उसे शरीर की सामूहिक तथा अन्य आंगिक शक्तियों का सहयोग प्राप्त होता रह सकता है, जैसे कि संस्कृत नाटकों में एक प्राकृत को दूसरी प्राकृतों का तथा अंगी संस्कृत की संगठनात्मक-संचालनात्मक शक्ति का सहयोग प्राप्त था। परन्तु शरीर से अलग हो जाने पर शरीर की सहयोग-प्रेरणा से वंचित होकर अंग प्राय: अपनी संकुचित शक्ति में भी अपूर्ण हो बैठता है। प्राकृतें जब संस्कृत से अलग हुई तो उनकी पूँजी केवल उनकी वही संकुचित और अपूर्ण कर्तृत्व-शक्ति थी। अंगी की पूर्णचेतना का जितना-सा अंश उनकी अंगक्रिया में था उसी का एक अधूरा-सा, संकुल-सा, रूप लेकर वे अपनी स्वतंत्रता में अग्रसर हुईं।

यह इन प्राकृतों के व्यक्तित्व का अंतरंग, चारित्रिक, लक्षण था। बाह्य परिस्थितियाँ भी स्वतंत्र प्राकृतों के अधिक अनुकूल नहीं थी। मुसलमानों के नर्धमान आयात के

कारण स्वतंत्र प्राकृतों का युग निरन्तर क्षोभ का युग रहा है। इसलिए भी वे, अपने-अपने प्रदेशों में भी, संस्कृत का सा सांस्कृतिक स्थान न ग्रहण कर सकीं। इनका युग संस्कृत-भाषा की अन्तिम दो-एक शताब्दियों का युग है। अतः जहाँ इन प्राकृतों में पूर्ण सांस्कृतिक विकास न हो सका वहीं इनमें कोई स्थैर्य भी न आ सका। संस्कृत का अन्त होते-होते प्राकृतों का भी अन्त हो चला।

बात यह है कि जब तक प्राकृतें अपना कुछ स्वरूप निर्णय कर सकीं तब तक मुसलमान केवल लुटेरे ही न रह गए थे, बल्कि वे हिन्दुस्तान में कहीं-कहीं अपने पैरों को थोड़ा-बहुत जमाने भी लगे थे। प्राकृतों के जीवन की क्षुब्ध परिस्थिति और उनका सांस्कृतिक विकास होने से पहले ही विरूप संस्कृति का उनके अन्तराल में अङ्कित हो जाना उनके लिए बड़े प्रधान रूप से बाधक हुआ। उधर संस्कृत भी अभी कुछ साँसें ले रही थी—और वह विशाल सामाजिक संस्कृति की सुचिरप्रतिष्ठित भाषा रह आई थी—इससे प्राकृतों को अपने नए (भाषारूप) जीवन में अपेक्षित गति प्राप्त न हो सकी। इस प्रकार मुसलमानों का आगमन जहाँ एक ओर संस्कृति में विच्छिन्नता पैदा करता हुआ संस्कृत की प्रतिष्ठित पदवी में विघ्नकारी बन कर

प्राकृतों की स्वतंत्रता का प्रेरक हुआ, वहीं वह प्राकृतों की सांस्कृतिक परिणति में, और फलत: उनकी पूर्ण प्रतिष्ठा में, भी अमित्राचारी बना।

कहा जाता है कि प्राकृतों का समय बीत चुकने के बाद उन्होंने अपना स्थान अपभ्रंशों को दे दिया। परन्तु यह बात कुछ अधिक समझ में नहीं आती। प्राकृतों के जीवन की किस सीमा पर लाइन खींच कर हम अपभ्रंशों काआरम्भ मानेंगे और कहाँ उन अपभ्रंशों का अन्त करेंगे? फिर, किन-किन प्राकृतों से किन-किन अपभ्रंशों का उदय सिद्ध किया जाएगा? महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्ध-मागधी और पैशाची प्राकृतों के उत्तराधिकारी किन महाराष्ट्रीय, शौरसेन, मागध, अर्ध-मागध और पैशाच अपभ्रंशों के नाम हम जानते हैं? हम देखते हैं कि अपभ्रंशों के किन्ही अलग-अलग प्रादेशिक रूपों की भारतीय भाषाविज्ञान में उस ढँग की कोई विशेष विवेचना नहीं मिलती जैसी कि प्राकृतों की और आधुनिक भिन्न-भिन्न बोलियों या उपभाषाओं की की जाती है। आधुनिक भाषाओं की गणना तो पंडितों ने इतने विश्लेषण के साथ की है कि बहुत छोटी-छोटी या अप्रधान बोलियों तक का उन्होंने इसमें उल्लेख कर दिया है। अपभ्रंशों के सम्बन्ध में

ऐसा क्यों नहीं हुआ ?

हम देख चुके हैं कि प्राकृतों के जीवन में अव्यवस्था थी। फलतः, यदि प्राकृतों को अपभ्रंशों की जननी माना जाए तो, अपभ्रंशों का जन्म भी अव्यवस्था का ही जन्म था। मुसलमानों के कारण पैदा हुई उथल-पुथल में अलग-अलग विकसित होनेवाली प्रादेशिक संस्कृतियाँ छिन्न-भिन्न होगई थीं। देश की इस संकुलावस्था में ही अपभ्रंशों का जन्म हुआ। प्राकृतें चूँकि अपने क्षुब्ध जीवन में किसी प्रकार के स्वतंत्र सांस्कृतिक जीवन का प्रतिनिधित्व न कर सकी थीं, इसलिए वे किन्ही स्वतंत्र प्रादेशिक अपभ्रंशों को भी अपना उत्तराधिकार न दे सकीं। अवश्य ही जिस जनक या जननी का आसन अच्छी तरह जमने से पहले ही डाँवाडोल होने लगा हो वह अपनी सन्तति के लिए किस सुस्थिर या सुनिश्चित पदवी के रिक्थ को छोड़ जा सकती है ? परन्तु वस्तुतः प्राकृतें अपभ्रंशों की जननी नहीं है। 'अपभ्रंश' पहले से चली आती हुई लोकभाषा का नाम है, जिसे प्राकृतों के ह्रास के बाद अपने किसी विकास का कुछ अवसर मिला था। यही कारण है कि प्राकृतों के अनुरूप अपभ्रंशों के नाम हमें अपनी भाषा के इतिहास में नहीं मिलते।

देश की जिस संकुलावस्था में अपभ्रंशों का विकास हुआ था उसमें आर्य जनता के हाथ में उसकी परम्परा-व्यापिनी सामाजिक संस्कृति के कुछ छिन्न तत्व ही रह गए थे, जो एकसूत्रता के विध्वस्त होजाने से स्वयं संकुल हो चले थे; जिससे सामान्य लोकव्यवहार और उस व्यवहार की भाषा या बोली का रूप भी संकुल हो चला। इसलिए भी उस भाषा को शायद 'अपभ्रंश' का नाम दिया गया हो। अन्यथा यह कितने अन्याय की बात होगी कि जिस तर्क को लेकर कुछ विद्वान् 'प्राकृत' और 'संस्कृत' नामों की व्याख्या 'प्रकृति' या जनसमुदाय की भाषा' और 'संस्कृत की हुई या बनावटी भाषा' कह कर करते हैं उसी तर्क के आधार पर वे अपभ्रंशों में से 'अपभ्रंश' नाम के दूषण को हटा कर उन्हें भी प्राकृतों की तुला में प्रकृति की, अर्थात् प्राकृत, भाषा के गौरव में नहीं आसीन करते।

अपभ्रंशों का 'अपभ्रंश' नाम प्राकृतों के जमाने में ही पड़ गया होगा, यह स्वाभाविक मालूम होता है। प्राकृतें जब संस्कृति का जैसा-कुछ प्रतिनिधित्व करने की दावेदार बनीं तो उनकी अपेक्षा में असंस्कृत लोकभाषा को उनका अपभ्रंश कहा गया। स्वाभाविक तो यहाँ तक मालूम होता है कि अपभ्रंश बोलियों का अस्तित्व संस्कृत

की प्रभुता के समय में भी रहा हो, जबकि प्राकृतें संस्कृत की सहयोगिनी होकर आंशिक सांस्कृतिकता की भागिनी रही थीं। प्राकृतों में सबसे अधिक असंकृत ग़रीब पैशाची थी जिसको प्राकृतों के स्वातंत्र्य-युग में भी कोई विशेष साहित्यिक महत्व न प्राप्त हो सका। यह पैशाची संस्कृत-नाटकों की सबसे हीन भाषा थी जिसे अत्यन्त हीन पात्र, भूतप्रेत या राक्षस आदि, बोलते थे। यह असम्भव नहीं है कि अपभ्रंश का मूल सम्बन्ध किसी अवस्था में इस पैशाची प्राकृत से रहा हो। फिर ज्यों-ज्यों प्राकृत-संस्कृति अपने को अधिकाधिक विशिष्ट बनाती गई त्यों-त्यों, हीनता में अत्यन्त अपभ्रंश बोलियाँ भी अनुक्रम से अपने सांस्कृतिक सम्पर्क में कुछ-कुछ ऊँची उठीं। अतः यह सम्भव है कि जिन पैचाशी-सम्बद्ध (?) अपभ्रष्ट बोलियों का संस्कृत-युग में कोई विशेष नाम नहीं था उनका प्राकृत युग में, उनके थोड़ा-सा ऊँचा उठने पर, 'अपभ्रंश' नाम से स्वीकरण होगया।

परन्तु अपभ्रंश अपभ्रंश ही रहे। प्राकृतों से पृथक् अपनी किसी सांस्कृतिक सत्ता को किसी अंश में भी व्यवस्थित करने की उनकी सामर्थ्य न थी। संस्कृत के अवशिष्ट प्रश्वास, जो प्राकृतों की स्वतंत्रता में भी किसी अंश में बाधक हुए थे, अपभ्रंशों के आत्मनिर्धारण में

और भी अधिक बाधक हुए होंगे। भारतीय साहित्य की शृंखला में अपभ्रंश-साहित्य का स्थान उसी प्रकार प्राकृत-साहित्य के उत्तरकाल का समसामयिक-सा है जिस प्रकार प्राकृत-साहित्य का स्थान अन्तिम संस्कृत-युग का समकालिक-सा है। शायद इसीलिए यह स्थान विशेष ऊंचा भी नहीं है और न वह प्राकृतों के बाद अधिक देर तक रहता ही है।

मुसलमानों का प्रतिष्ठान-युग भारत में जिस प्रकार यहाँ की राजनीति-परम्परा में उसी प्रकार भारतीयों की सामाजिकता में, उनकी संस्कृति में, भी संक्रमण का युग है। संक्रमण-काल की संकुलता में सामाजिक-जीवन-सम्बन्धी तरह-तरह की अस्थायी धाराओं का फूट निकलना स्वाभाविक है। भाषा, साहित्य का प्रथम उपकरण होने के नाते, सामाजिक जीवन और उसकी संस्कृति का दर्पण बनती है। इस संक्रमण-काल में हम भाषा की दृष्टि से कम से कम तीन घटनाओं को लगभग युगपत् सी संघटित होती हुई देखते हैं, जो अपने-अपने स्वभाव में एक-दूसरी की प्रतिक्रिया की प्रतिबिम्बता वहन करती हैं—अर्थात् संस्कृत के प्रभुत्व का धीरे-धीरे ह्रास, प्राकृतों का संस्कृत से आपेक्षिक पृथक्करण, तथा अपभ्रंशों का विकास।

संस्कृति की जितनी थोड़ी-सी पूँजी लेकर प्राकृतें स्वतंत्र हुई थीं, अपने अशान्ति के समय में वे उसकी भी रक्षा न कर सकीं। दूसरे शब्दों में, थोड़ी पूँजी के बल पर अपने समय के संघर्ष का सामना करने में असमर्थ होकर वे स्वयं अपनी भी रक्षा न कर सकीं। इसीलिए उन्हें दीर्घ जीवन प्राप्त न हुआ। उनकी तथा उनकी संस्कृति की अरक्षा में उनका स्थान ग्रहण करनेवाला कोई न था। उनका पूर्ण सांस्कृतिक विकास न हो सकने के कारण लोकव्यवहार की भाषा कुछ ऊँची उठती-उठती भी सामाजिकता का सही अर्थों में स्पर्श न कर पाई। लोकभाषा को उठाना तो अलग रहा, प्राकृतें स्वयं ही लोकभाषा में मग्न होगईं। यह कहा ही जा चुका है कि उस समय भारत के आर्य निवासियों की सामाजिकता छिन्न-भिन्न होगई थी, जिसके कारण प्राकृतों का पनपना न हो सका था। इसीलिए उस समय की लोकभाषा या अपभ्रंशों में भी सामाजिक साहित्य का एकदम अभाव-सा दिखलाई देता है। अप-भ्रंशों में जो कुछ भी साहित्य है वह अधिकतर साधु-सन्तों—विशेषत: बौद्ध सिद्धों और जैनों—का साहित्य है, जिनकी सर्वसामाजिकता में सदैव संदेह करने का स्थान रहता है। तत्कालीन अबौद्ध और अजैन रचयिताओं में

कुछ उन साधुदृश्य लोगों की गणना की जा सकती है जिनमें उनकी निजी सांस्कृतिक दुर्बलता के कारण प्रारम्भिक बसनेवाले मुसलमानों के सूफी एकेश्वरवाद का संस्कार थोड़ा-बहुत घर कर गया था। इनका एकेश्वरवाद भारतीय दर्शन का एकेश्वरवाद या ब्रह्मवाद नहीं है। इन साधुदर्शी लोगों की भाषा में सांस्कृतिक भाषा की शुद्ध व्याकृत ढँग की एकसूत्रता की कमी है। वह प्रान्तीय प्राकृतिक प्रयोगों से प्रभावित रहती हुई भी किन्हीं प्रान्तीय या प्रादेशिक व्यक्तित्वों से शून्य थी। यह सही है कि प्राकृतों के प्रभाव से युक्त होने के कारण अपभ्रंश भी ठेठ लोकभाषा से हटने लगे, परन्तु फिर भी समाज-संस्कृति के बोधक किसी स्वतंत्र अस्तित्व से वे अलग ही रहे। ऐसी सूरत में, जब अपभ्रंशों का जीवन कोई स्वतंत्र सांस्कृतिक जीवन नहीं है, अपभ्रंशों का युग भी कोई स्वतंत्र युग नहीं है। अन्यथा समझ में आना कठिन है कि हम, उदाहरणार्थ, व्रजभाषा को शौरसेनी प्राकृत से निकली हुई क्यों बतलाते हैं। हम क्यों नहीं कह पाते कि व्रजभाषा अमुक अपभ्रंश से निकली है। पिता से अनभिज्ञ रहकर मातामही के हवाले से किसी का परिचय देने में किसी वंशगत दुर्बलता का लक्षण दिखाई देता है।

अपभ्रंशों का समय कोई लोग चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक मानते हैं। तथापि चौदहवीं शताब्दी तक हम अपभ्रंश से भिन्न, कई-कई परिणतियों में निकलते हुए, लोकभाषा के कुछ स्वरूपों को अपभ्रंशों की अपेक्षा अधिक प्रगतिगामी देखते हैं। ये स्वरूप विदेशी तथा भारतीय संस्कृतियों के आदान-प्रदान से गठित होकर अपने को समाजोपयोगी बनाने में अधिक सचेष्ट हैं, शायद इसीलिए कि अपभ्रंश वैसा न कर सके। अमीर खुसरो की भाषा, और उनके बाद कबीर की भाषा, इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इधर, जिसे कुछ लोग 'पुरानी ब्रज-भाषा' कहते हैं उसकी भी प्रवृत्ति कुछ अलग-अलग-सी चलती दिखाई देती है। दूसरी ओर हिन्दी के प्रमुख इतिहासकारों की प्रवृत्ति हिन्दी के उदय की सातवीं शताब्दी से मानने की भी है। वे पुरानी हिन्दी के उदाहरणों में उन पद्यलेखों को उपस्थित करते हैं जो अपभ्रंश के उदाहरण भी बतलाए जाते हैं। और, यह देखते हुए कि आजकल के हिन्दी-पढ़े लोग इस तरह के उदाहरणों का कुछ सिर-पैर जोड़ लेते हैं 'हिन्दी को उन उदाहरणों के समय तक ढकेलना कुछ अधिक अस्वाभाविक भी नहीं मालूम होता।

इस सबसे एक बड़ी भारी बात का पता लगता है। सातवीं-आठवीं शताब्दी संस्कृत साहित्य की अति समृद्धि का समय है। परन्तु उसका रूप बुझनेवाले दीपक की अतिरिक्त प्राणचेष्टा का सा रूप है; क्योंकि इसी समय के बाद से संस्कृत की निम्नाभिमुखी प्रवृति का भी, प्राकृतों के स्वातंत्रयोदय के रूप में, बीजारोप होने लगता है जिससे दो-तीन शताब्दियों के भीतर ही संस्कृत अपने आसन से डिग जाती है। सातवीं-आठवी शताब्दी में ही हिन्दी या अपभ्रंश की प्रवृत्ति भी जागरूक हो जाती है। ऐसा मालूम होता है कि जब विशाल सांस्कृतिकता में भेद-तत्व प्रकट होने लगे तो जनता की सामूहिक चेतना ने सामूहिक संस्कृति की पूँछ को पकड़ने चेष्टा की। परन्तु सामूहिक चेतना में सामाजिकता का, सांस्कृतिक संगठन का, बल न था। इसलिए जब प्राकृतें संकुचित संस्कृति-खंडों को लेकर स्वतंत्रता की ढपली बजाने लगी तो भी सामूहिक चेतना सचेष्ट बनी रह कर द्वन्द्व करती रही। यह स्वाभाविक था। जब तक विशाल संस्कृति का एकाध तन्तु भी जन-साधारण की चेतना में क़ायम रहेगा तब तक उसकी रक्षा की सामूहिक भावना भी किसी-न किसी रूप में बनी ही रहेगी। सामूहिक चेतना उस रक्षा का भार अपने कर्णधारों

को सौंप देती है; परन्तु यदि कर्णधार उस भार का वहन करने में असमर्थ सिद्ध होंगे तो सामूहिक चेतना को उसे स्वयं ही अपने दुर्बल हाथों से सँभालने की चेष्टा करनी पड़ेगी। अतः हम देखते हैं कि प्राकृतों के ह्रास के बाद भी लोकभाषा का पुराना द्वन्द्व चलता रहता है। परन्तु समूह-बाह्य उस लोकभाषा में सामाजिकता, या सांस्कृतिक संगठन, का बल अभी भी न आ पाया था। यदि प्राकृतों-तब तो 'प्राकृत' ही कहना होगा—की प्रवृत्ति विच्छेदात्मक न होकर विकासात्मक रही होती तो लोकभाषा अपनी निर्बलता को लिए हुए भी निश्चिन्त रहती, उसकी निर्बलता उपेक्षणीय होती। दूसरी ओर, यह भी सम्भव था कि यदि प्राकृतों का यह विच्छेदात्मक उदय ही न हुआ होता तो या तो संस्कृत ही लोकचेतना का भार धारण किए रहती या फिर लोक-चेतना स्वयं ही संगठित होकर धीरे-धीरे संस्कृत का उत्तराधिकार ग्रहण कर लेती। परन्तु परिस्थितियों के वश से प्राकृतों को अलग-अलग विकसित होना ही पड़ा, जिसके कारण, सांस्कृतिक संगठन की दृष्टि से, सामूहिक चेतना निर्बल-की-निर्बल ही बनी रह गई। फिर जब प्राकृतों का ह्रास हुआ तो वह स्वयं तो निर्बल और असंगठित थी ही; उत्तराधिकार के रूप में भी उसके लिए कोई सामूहिक

अथवा असामूहिक भी, सम्पत्ति न थी। हम देख ही चुके हैं कि प्राकृतें अपना सम्यक्, विशालता-दर्शी, सांस्कृतिक विकास प्राप्त करने से पहले ही जीर्ण हो गई थीं।

संस्कृति के विच्छेदकाल में प्राकृतों की स्वातंत्र्य-परम्परा में मागधी और महाराष्ट्री भी अलग हो गई थीं मागधी और महाराष्ट्री आर्य संस्कृति की दो प्रादेशिक सीमाओं को सूचित करती है। मुसलमानों का आगमन पश्चिम से हुआ था और कई शताब्दियों तक उनके आक्रमणों का सारा जोर उत्तर-पश्चिम और मध्य आर्यावर्त के ऊपर ही रहा है। पूरब में मुसलमान बहुत देर से पहुँचे और उससे अधिक देर में दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम की ओर। फलतः उत्तर, पश्चिम और मध्य आर्यावर्त का संक्रमण-युग इन दूरवाले स्थानों के लिए वैसा-कुछ संक्रमण-युग न था—इन स्थानों में सांस्कृतिक उथल-पुथल का संकट उतना तीव्र न था। जो कुछ था वह संकटापन्न प्रदेशों के प्रत्याभास के रूप में ही विशेष था। इसके परिणाम में जिस समय संकटापन्न प्रदेशों की संस्कृति विशाल संस्कृति से अलग होने के बाद घोर रूप से द्वन्द्व-संकुल हो रही थी उस समय दूरवाले देश मूल संस्कृति का जितना कुछ अंश अपने साथ लेकर अलग हुए थे उसी को वे अपनी

प्रादेशिक विशालता के रूपमें धीरे-धीरे विकसित और दृढ़मूल करते जा रहे थे। फलतः आज हम देखते हैं कि बंग और महाराष्ट्र मूल आर्य संस्कृति के स्वाधिकृत तत्वों की भावना में वर्तमान यू० पी०, राजपूताना, पंजाब आदि से अधिक विशिष्ट हैं। और बंगाल से अधिक विशिष्ट महाराष्ट्र है, जिसका कारण यही है कि वहाँ पर विरूप संस्कृति बहुत बाद से पहुँची और पहुँचने के बाद केवल स्पर्श करके ही लौट आई—अधिक ठहरी नहीं। इससे वहाँ के सांस्कृतिक संगठन की बड़ी भारी सूचना मिलती है। यह स्वाभाविक था कि संस्कृति में विशिष्ट ये प्रदेश छिन्न-संस्कृति यू० पी० आदि प्रान्तों को हीन दृष्टि से देखते। (महाराष्ट्र का ब्राह्मण इधर के ब्राह्मण की परछांई से भी परहेज करता है।) यह बात दूसरी है कि इन प्रदेशों की संकट-काल की यह सांस्कृतिक-संगठन-योग्यता वर्तमान युग की आवश्यकताओं में प्रान्तीय साम्प्रदायिकता का दूषण लिए हुए है। इसका कारण यह है कि मध्यकालीन परिस्थितियों से विशाल आर्यता से टूट कर ये प्रदेश अपनी टूटन को ही एक क्षुद्र विशालता में विकसित करने के लिए मजबूर हुए थे और उसी के संस्कार में रूढ़ हो जाने के बाद अब पुनः विशाल आर्यता के साथ एकरूप हो जाने में उन्हें

देर लग रही है। परन्तु इस बात की अधिक चर्चा यहाँ अप्रासंगिक है।

वंग और महाराष्ट्र की यह स्वतंत्र सांस्कृतिक संगठन-क्रिया वहाँ की भाषा में जिस रूप में प्रति फलित हुई है उसे भी हम देखते हैं। उत्तर-मध्य-आर्यावर्त के प्राकृत-कालिक तथा प्राकृतकालोत्तर लोकभाषित अपभ्रंशों के से असमञ्जस का कोई विशेष परिचय हमें मागधी तथा महाराष्ट्री के प्रदेशों में नहीं मिलता। अपभ्रंश साहित्य के नाम से जिस प्रकार की रचनाओं का उदाहरण दिया जाता है उनका स्थान अधिकतर वंग या महाराष्ट्र नहीं है, मानों वंग और महाराष्ट्र में अपभ्रंश थे ही नहीं। महाराष्ट्र और मागध प्रान्तों में भी लोकभाषा के अपभ्रष्ट रूप तो रहे ही होंगे—महाराष्ट्र में तो अधिक विश्लेषगुण के साथ, क्योंकि महाराष्ट्री सबसे अधिक सांस्कृतिक और साहित्यिक प्राकृत थी—परन्तु अपभ्रंश के रूप में दलित होने का गौरव विशेषतः अर्धमागधी और शौरसेनी के ही भाग्य में था। अर्ध-मागध और शौरसेन प्रदेशों में राजनीतिक और सामाजिक संकट तो था ही यहाँ की प्राकृतें भी कदाचित् सांस्कृतिकता में अधिक समुन्नत न थीं और लोकभाषाओं के अधिक सम्पर्क में थीं। संस्कृत नाटकों में इनके बोलने-

वाले पात्रों के व्यक्तित्व से इसका शायद कुछ अनुमान किया जा सकता है। अर्धमागधी के 'अर्ध' उपसर्ग से तो यह भी अनुमान किया जा सकता है कि यह प्राकृत कदाचित् संकर-भाषा रही होगी। प्राकृतों की तुलना तथा उनके व्याकरण से शायद यह भी पता लग सके कि शौरसेनी और अर्धमागधी का पैशाची से कितना पारस्परिक सम्पर्क था* इसके विपरीत अपनी संस्कृति में विशिष्ट तथा राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल से अनाकुलित मागधी तथा महाराष्ट्री को अपने अपेक्षाकृत पूर्ण विकास का अवसर मिलने के कारण उनकी स्थिति जब दृढ़ और सुनिश्चित हो जाती है तो उनके उत्तराधिकार के सम्बंध

---

* मैं स्वयं इन प्रश्नों का निश्चयात्मक उत्तर देने में असमर्थ हूँ। मेरे अधिकार क्षेत्र के बाहर की यह बात है। प्राकृतों और अपभ्रंशों के अधिकारी विद्वानों के लिये मैंने केवल यह संकेत रक्खा है इस लेख का एकान्त उद्देश्य तो भारतीय आदि संस्कृति में परिस्थितिवश समय-समय पर घटित होने वाली मोटी-मोटी धाराओं तथा उनसे प्रतिकूल होने वाले भाषाप्रवाह की समानान्तर घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध की जिज्ञासा उठाना ही है।

में भी अधिक बखेड़ा शायद पैदा नहीं होता। उनका जो कुछ भी अपभ्रष्ट लोक-रूप रहा होगा वह उनके विकास-क्रम के साथ-साथ अपने भी सुनिश्चित विकास-मार्ग पर चलता-चलता अन्तत: किसी उत्तरावस्था में सहज ही बँगला और मराठी भाषाओं का रूप धारण कर लेता है। इन भाषाओं के बोलने-वालों की आर्य सांस्कृतिकता के अंश में संस्कृत का सम्पर्क भी बना रहता है—हमें पता है कि प्राकृतों के ज़माने में भी संस्कृत चल रही थी—जिसके कारण बंगाल और महाराष्ट्र में आज भी संस्कृत का समुचित आदर है तथा बंगला और महाराष्ट्री भाषाएँ संस्कृत के शब्द-भंडार से जी भर कर संम्पादित हो रही हैं। हिन्दी की भाँति वहाँ यह समस्या नहीं उठती कि संस्कृतबहुल भाषा उपादेय है या नहीं और न वहाँ इस लिए किसी कृत्रिम 'हिन्दुस्तानी' भाषा बनाने की ही आवश्यकता पड़ती है। अपने मूल सांस्कृतिक स्पर्श को कायम रखने के कारण, हिन्दी की अपेक्षा में नई होती हुई भी—हिन्दी की ऐतिहासिक पुरातनता का सातवीं-आठवीं शताब्दी से हिसाब लगाया जाता है—बँगला और महाराष्ट्री भाषाएँ अब से पचीस वर्ष पहले तक हिन्दी से कहीं अधिक समुन्नत समझी जाती थीं, वे हिन्दी के लिए अनुवाद्य थीं।

४

अपभ्रंश तथा अपभ्रंशों के हिन्दी रूप पन्द्रहवीं शताब्दी तक ऐसे ही उलझे-उलझाए-से चलते हैं जिनमें, समाज की अस्थिर स्थिति के कारण, सामाजिकता का कोई उन्मेप नहीं हो पाता है। परन्तु इधर दो बातें होती हैं। दो-एक शताब्दियों से मुसलमानों में ठहरने की रुचि अधिकाधिक बढ़ती जाती है। धीरे-धीरे अलाउद्दीन ने दिल्ली में राज्य जमाया। अन्ततः मुग़लों ने अधिक स्थायी और उत्तरोत्तर बढ़ते हुए रूप में अपनी प्रतिष्ठा करली। इससे एक तरफ तो मुसलिम-शासित प्रदेशों में किसी प्रकार की सामाजिकता का रूप अंकुरित होता है, दूसरी तरफ़ मुसलमानों के निरन्तर आतंक से आक्रम्य हिन्दू पड़ोसों में मूल आर्य चेतना के ढँग से—भले ही बिखरे हुए रूप में—राजनीतिक संगठन की लहर तीव्र होती है। वस्तुतः तो यह लहर मुसलिम-प्रतिष्ठा के कुछ पहले ही पैदा हो गई थी। इस लहर की प्रेरणा से उस समय के साहित्य में पहले से चली आती हुई सन्त-प्रबोधकों की अपभ्रष्ट वाणी के साथ राष्ट्रप्रबोधकों की वाणी का भी वीर-गाथा के रूप में संयोग हो गया। ये दोनों साहित्य-रूप

असामाजिक थे; परन्तु राष्ट्रप्रबोधकों की वाणी के गाथात्मक अंश में सामाजिकता की तैयारी थी। इस गाथात्मक वाणी की उद्भूति भी दिल्ली के इर्द-गिर्द प्रान्तों की ही है। हिन्दी के इतिहासकार हमें बतलाते हैं कि दिल्ली के पड़ोस की शौरसेनी-परम्परा 'पुरानी ब्रजभाषा' के रूप में धीरे-धीरे काव्यभाषा का स्थान लेती जा रही थी। उधर दिल्ली-मेरठ प्रान्त में व्यवहार को धीरे-धीरे सामाजिकता में विन्यस्त करनेवाली खड़ी बोली का रूप-निर्माण हो रहा था, जिसमें खुसरो ने अपनी कविता लिखी थी। मुसलिम-शासन की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने पर राजधानी दिल्ली और उसके प्रान्त-देश सामाजिक संस्कृति के केन्द्र बन जाते हैं और काव्यभाषा की परिपाटी ग्रहण करनेवाली उनकी निकटवर्ती ब्रजभाषा को अवसर मिलता है।

अवध, बुन्देलखंड तथा राजपूताना की बोलियाँ प्राकृतों के बाद संक्रमण-युग की प्रेरणा से कुछ उभरती-सी दिखाई देती हैं। परन्तु अपने भीतर सामाजिकता का संग्रह वे कभी न कर पाईं। दिल्ली की तरह का उन्हें स्थिर सामाजिकता का कोई केन्द्र न मिल सका था। इसीलिए वे अपनी प्रारम्भिक वृत्तियों के आगे न बढ़ सकीं और अन्ततः ब्रजभाषा के सामाजिक प्रसार में ही अव-

सित हो गईं। तुलसीदास-जैसे महाव्यक्तित्व की भी ब्रजभाषा में रचना करने की प्रवृत्ति हुई थी।

ब्रजभाषा सामाजिक भाषा तो बनी परन्तु उसकी पूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी से पहले न हो सकी। यह बहुत कुछ स्वाभाविक भी था। सोलवीं-सत्रहवीं शताब्दी में मुगल-शासन अपनी सुदृढ़ प्रतिष्ठा और विशालता को प्राप्त कर एक साम्राज्य बन चुका था और साम्राज्यान्तर्गत प्रदेशों में सामाजिक स्थिरता प्राप्त हो गई थी। दिल्ली और आगरा संस्कृति के केन्द्र थे। काव्यभाषात्व की उम्मीदवारी करती आई हुई ब्रजभाषा राजधानियों से संचरित संस्कृति की वाहनता की स्वाभाविक अधिकारिणी थी।

परन्तु जिस संस्कृति का ब्रजभाषा ने वहन किया वह क्या यथावत् आर्य संस्कृति थी? कई शताब्दियों के भारतवास में मुसलमानों ने जितना-कुछ हिन्दू संस्कार ग्रहण कर पाया होगा उससे अधिक आर्यता का कितना-सा अंश तत्कालीन सामाजिकता में हो सकता था? नियम है कि विजेता और विजित में विजेता की संस्कृति का प्राधान्य रहता है। मुसलमान आक्रामक जहाँ एक ओर अच्छे योद्धा थे वहीं दूसरी ओर उनमें हठपूर्ण विलासिता का भी जोश था। स्त्रियों के अपहरण की कहानियाँ किसी अन्य विजेता के कार्यकलाप में इतनी प्रधानता से इतिहास

में न मिलेंगी जितनी मुसलमानों के विजयमद में मिलती हैं। फिर तो, प्रतिष्ठा हो जाने के बाद अपहरण के अतिरिक्त दूसरे तरीकों से भी उन्हें स्त्रियाँ सुलभ हो जाती हैं। और, संस्कृति के आदान में इस कामुकता को स्वीकार कर विजित लोग स्त्रैण बन जाते हैं। फलतः ब्रजभाषा की सामाजिकता को हम विशेषतः कायरतापूर्ण विलासिता के रूप में ही देखते हैं। स्त्रैणता शृंगार नहीं है। अतः ब्रजभाषा में कोई अच्छा शृङ्गार रस का काव्य भी नहीं है। स्त्रैणता कोई शुद्ध भाव भी नहीं है; चाहें तो उसे अधिक से एक क्षुद्र संचारी वृत्ति अथवा अनुभाव कह सकते हैं। इसलिए ब्रजभाषा में महाकाव्यों का भी अभाव है।

मुसलिम-शासन की संस्कृति दरबारी ढंग की थी। दरबारी ढंग में तरह-तरह के कलाबाज आकर रईस को अपनी कलाबाज़ियों से प्रसन्न करते और इनाम पाते हैं। पहलवानों या जानवरों के दंगलों की भाँति कवियों के दंगल का रूप मुशायरा है, जिसमें क्षणप्रदेय आनन्द के उद्देश्य से चमत्कार की वाञ्छा बढ़ी होती है। ब्रजभाषा में हमें दरबारी सामाजिकता की यह चमत्कार-प्रियता कितनी अधिक मात्रा में मिलती है! सामाजिक ब्रजभाषा के अधिकांश कवि दरबारों के आश्रित और दंगली ही हैं।

उनके लिए कविता उपार्जनीय कारीगरी की वस्तु है, अहेतुक आत्मानन्द की नहीं। अतः ब्रजभाषा साहित्य का रूप अलंकारजटित छंदोरचना का रूप है जिसके लिए अलंकारशास्त्र का इतना अधिक विस्तार किया गया है कि संस्कृत के अति विश्लेषणकुशल शास्त्र को भी मात कर दिया गया। और ब्रजभाषा का काव्यशास्त्र एकांगी है, केवल अलंकारशास्त्र ही है। छंदोरचना की कारीगरी में ब्रजभाषा में गद्यसाहित्य की छाया भी दिखाई नहीं देती; नाटक तक नहीं हैं। दंगली चमत्कार की क्षणिक वृत्ति में स्थायी वृत्तियों की गुंजाइश ही कहाँ है! प्रबंधकाव्य या महाकाव्य तब कहाँ से होते? रामचन्द्रिका के महाकाव्यत्व का ढकोसला उस समय की सामाजिकता का बड़ा अच्छा प्रमाण उपस्थित करता है जिसमें विपर्यस्त चमत्कारी वर्णनों को शुष्कवाल्कारूप निरस्त प्रसंगपद्यों द्वारा जोड़ने का बहाना-भर कर दिया गया है।

ग़नीमत इतनी ही थी कि सामाजिकता की सम्यक् प्रतिष्ठा होने से पहले पिछले सन्त-साहित्य ने जनता के भीतर कुछ आध्यात्मिक चेतना को सजीव रक्खा होगा। उसी के परिणाम में यह दूसरी ग़नीमत थी कि ब्रजभाषा का प्राक्सामाजिक संस्कार भी कुछ साधुओं के द्वारा

ईश्वरोन्मुख वृत्तियों को लेकर हुआ। सौभाग्य से ब्रजभाषा में कृष्णानुरागी इन साधुओं की एक परम्परा-सी भी कुछ समय तक बनी रही थी जिसके परिणाम में अन्ततः कृष्णार्चन ही ब्रजभाषा का संस्कार बन गया। कबीर, तुलसीदास और सूरदास के विनय-साहित्य के संस्कार ने यथाशक्ति मर्यादा और गाम्भीर्य का भी थोड़ा पुट देने की चेष्टा की होगी। फिर यद्यपि कृष्ण का माधुर्य भी, जो साधुओं की भावना में प्रेम-भक्ति की साधना का उपकरण था, सामाजिकता के पाश मे पड़ कर उसकी विलासिता का साधन बन जाता है; तथापि कृष्ण-नाम की परम्परागत ईश्वरीय भावना एक क्षीणातिक्षीण उपोपचेतना की दशा में उस भावहीन सामाजिकता के ढेर में कहीं-न-कहीं तो दबी-पड़ी रही ही होगी। इस उपचेतना को हम ब्रजभाषा की विलासपद्धति में ही शायद थोड़ी-सी देख सकें जहाँ संभोगियों के संभोग और विप्रलब्धों के विप्रलम्भ को रूपरेखा और मनोवृत्ति भारतीय ही रहती है।

मुग़ल-शासन के मध्यकाल में हिन्दू-मुसलमनों की मिश्र सामाजिकता में, जिसका प्रतिनिधित्व ब्रजभाषा कर रही थी; दो धाराएँ होने लगती हैं जो धीरे-धीरे एक दूसरी से दूरतर होती जाती हैं। मुसलमानों की लश्करी

बोली एक पृथक् सामाजिकता का सूत्रपात्र करती हुई और हिन्दू-मुसलिम भेद की कानाफूसी फैलाती हुई धीरे-धीरे 'उर्दू' नाम से चमकने लगती है, जिसकी पद्धति खड़ी बोली की पद्धति है। इसके परिणाम में ब्रज-सामाजिकता की संरक्षकता केवल कुछ छोटे-छोटे जिमींदारों तथा दलित सामन्तों के दुर्बल हाथों में रह जाती है जो अपने अपमानित जीवन की लज्जा को मिथ्या विलास के संस्कारों में डुबाने में तल्लीन थे।

५

यह परिस्थिति अठारहवीं शताब्दी के उत्तरकाल की है। अठारहवीं शताब्दी में उत्तर-भारतीय इतिहास में एक नए राजनीतिक तथा सामाजिक संक्रमण-युग का उदय होता है। यह युग उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक चलता है। मुसलिम-प्रभुता का ह्रास हो चुकने के बाद अब मुसलिम-शासन की अन्तिम घड़ियाँ भी बीत चुकी हैं, और इस संक्रमण की उथल-पुथल का अधिकांश बोझ उसी हतायु मुसलिम-सत्ता पर पड़ता है जो इस समय उसे उठाने में बिलकुल अक्षम है। सत्रहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा की जो मुसलिम-आर्य सामाजिकता प्रतिष्ठित हुई थी वह अठारहवीं

शताब्दी में दो धाराओं में विभिन्न होकर उन्नीसवीं शताब्दी में फिर एकदम अस्तव्यस्त हो जाती है। ब्रजभाषा उसे सँभाले रखने में असमर्थ है। वह स्वयं इन परिस्थितियों में अपने समाज के साथ-साथ धीरे-धीरे शिथिल होती हुई मुमूर्षु हो चली है। ब्रजभाषा की संस्कृति में निजी (आर्य) संस्कृति की, हम देख चुके हैं, पूर्णांगता और तद्गत स्थायित्व तो होती ही कैसे? उसमें मूल संस्कृति का इतना-सा भी अंश न रह गया था जितना प्राकृतों में था। परिणामस्वरूप उसमें अपना बल अत्यन्त क्षीण था। पाणिनीय संस्कृति की भाँति वह अपना सम्पर्क बढ़ाने में भी असमर्थ थी। अवधी, बुन्देली, मारवाड़ी आदि को, जो आर्य संस्कृति की शुद्धता की दृष्टि से ब्रजभाषा की अपेक्षा अधिक उदार भी थीं, वह अपने साथ न ले सकी; प्रत्युत उसने उनको दलित ही किया। उसमें यदि किसी अधिक विशाल और दृढ़ समाज की संस्कृति होती तो, इसका यही अर्थ निकलता है कि, जिस समाज की वह भाषा थी वह भी विशाल और दृढ़ होता। तब वह समाज और उसकी भाषा विरूप परिस्थितियों से टक्कर लेने में अधिक समर्थ और अधिक चिरस्थायी होते जिस प्रकार कि जैन-बौद्ध आन्दोलनों के बाद संस्कृत और

अलग समाज हुए थे।

उन्नीसवीं शताब्दी में ही अँग्रेजों की राजनीतिक आवश्यकताओं के कारण ब्रजभाषा के बचे हुए क्षुद्र काव्यात्मक रूप का गद्यात्मक व्यवहार के सामने धीरे-धीरे तिरोधान होता जाता है। स्वयं ब्रजभाषा-साहित्य में तो गद्य की कोई परम्परा थी नहीं; अतः इस गद्य का रूप कुछ ब्रज-रंजित खड़ी बोली का होता है जो धीरे-धीरे निखर कर शुद्ध खड़ी बोली बनता जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ब्रजभाषा केवल एक स्मृति-सी (यथा भारतेन्दु में) रह जाती है और खड़ी-बोली-गद्य का पाया जमने लगता है। यह खड़ी बोली हिन्दी का, हिन्दुओं की भाषा का, बीसवीं शताब्दी का रूप है। अँग्रेजों के आजाने से हिन्दुओं और मुसलमानों की सामाजिकता अच्छी तरह अलग-अलग हो जाती हैं। हिन्दू-सामाजिकता विपर्यस्त तो थी ही, परन्तु अब वह अपने विपर्यस्त अंगों को जोड़ लेने की चेतना का कुछ-कुछ उपार्जन करती है। इसका कारण यह है कि मुसलमानी सामाजिकता से अलग होकर वह किसी अँग्रेजी सामाजिकता से भी अपना सम्बन्ध नहीं बना पाई। अँग्रेजों की कोई भारतीय सामाजिकता नहीं थी, क्योंकि अँग्रेज भारत में केवल राज्य करने आए थे;

मुसलमानों की भाँति यहाँ बसने नहीं। कारीगरी और विलासिता का संवर्धन करनेवाली कोई दरबारी पद्धति उन॰ के शासन की नहीं थी। शासनमात्र के उद्देश्य में वे शुद्ध व्यावहारिक थे। आर्य जनता और उसकी भाषा को भी इस प्रकार, मजबूरन् अपना घर स्वयं सँभालने की जरू- रत पड़ी। और इस आवश्यकता से उद्भूत स्वावलम्ब की प्रेरणा में उसकी अपने नवोपार्जित व्यावहारिकता के संस्कार को अधिक पुष्ट करने की प्रवृत्ति हुई। हिन्दी में गद्य का उत्तरोत्तर विकास बढ़ने लगा।

अकेली पड़ने के बाद आर्य जनता अपनी स्वावल- म्बन की आवश्यकता को धीरे-धीरे एक राष्ट्रीय भावना में परिणत करने लगी, और हिन्दी इस भावना का वहन करने लगी। अँग्रेजों की सार्वभौम प्रतिष्ठा ने एक बार फिर देश के छिन्नांगों को एक दूसरे से अनुप्राणित होने का थोड़ा- बहुत अवसर दिया, जिसके कारण वंग-भंग-सम्बन्धी आन्दोलन की हवा हिन्दी-भाषी जनता तक भी आ पहुँची और हिन्दी-भाषी जनता ने उस ओर देख कर वहाँ के जीवन और साहित्य से स्फूर्ति ग्रहण की। सन् १९१४- '१८ की लड़ाई के बाद का समय अखिल-भारतीय राष्ट्र- भावना के लिए परम उत्तेजना और सजीवता का समय

था। हिन्दी इस समय लगभग आधे भारत की भाषा थी। अखिल-भारतीयता की दृष्टि से अँग्रेज़ी, और उत्तर-मध्य भारतीयता की दृष्टि से हिन्दी, ने इस राष्ट्रभावना के संकलन में पूर्ण योग दिया। परन्तु हिन्दी और अँग्रेज़ी में सांस्कृतिक अन्तर था। अँग्रेज़ी, विरूप संकृति की भाषा होने के कारण, उस एक ही समय में जहाँ भारतीय राष्ट्रीयता के विरुद्ध भी आचरण कर रही थी वहाँ हिन्दी शुद्ध राष्ट्रीयता की ही तल्लीनता में सचेष्ट थी। जैन-बौद्ध आन्दोलनों के बाद यह दूसरी बार आर्य संस्कृति के भीतर सामाजिक संकलन और संगठन का उद्योग दिखाई दिया। बंगला, मराठी और गुजराती समाजों ने भी अपने प्रान्तों की परिधि में इस संकलन-क्रिया को सम्पन्न किया। परन्तु हिन्दी तथा इन भाषाओं की कर्मशीलता में यह भेद रहा कि किसी अतीत में मूल संस्कृति के छिन्नांश को अलग लेकर वे धीरे-धीरे अपनी संकीर्णता में स्वतंत्र होगई थीं; अतः हिन्दी से अधिक समुन्नत होती हुई भी, वे हिन्दी की जैसी विशाल सामाजिकता की कल्पना नहीं कर सकती थीं। मध्यकालीन उत्तर भारत की विपर्यस्त परिस्थितियों में, आर्य जनता के वर्तमान सौभाग्य से, हिन्दी को अपनी कोई एकदेशीय संकीर्ण स्वतंत्रता बनाने

का अवसर न मिला जिसके कारण बिखरी-बिखरी होने पर वर्तमान में उसे अपनी संकलन-चेष्टा के लिए बाध्य होना पड़ा। १९२१-'२२ में उर्दू-समाज ने देश की तत्कालीन संकलनवृत्ति में सहयोग दिया था। परन्तु उसका उद्देश्य शुद्ध एकदेशीय राजनीति का, विदेशी खिलाफत का, था; सांस्कृतिक या सामाजिक न था। अतः वह एक साल के भीतर ही संकलन-पथ से भ्रष्ट हो गई।

हिन्दी की सांस्कृतिक-सामाजिक समष्टि-कलना की इस योग्यता को देख कर देश ने उसे राष्ट्र-भाषा बनने का प्रमाणपत्र दे दिया; क्योंकि देश स्वयं ही एकसमाज, एकराष्ट्र, बनना चाहता है। हिन्दी ने इस पदभार को स्वीकार किया है और वह अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए चेष्टमान होरही है।

परन्तु राष्ट्रीय आर्य-समाज को भी अपनी भाषा के इस उत्तरदायित्व में भरपूर सहयोग देना होगा। आज आर्य भाषा परिवार में हिन्दी, मराठी, बँगला और गुजराती गणनीय हैं। इन सब भाषाओं के बोलनेवाले न्यूनाधिक अंश में आर्य संस्कृति के कुछ छिन्न तत्वों को अभी पकड़े हुए हैं। आर्य संस्कृति ने तो सुदूर दक्षिण तक अपना प्रसार किया था और अपनी भाषा के रूप में वह संस्कृत

को लेती गई थी। आज भी संस्कृत का वहाँ अन्य प्रान्तों की अपेक्षा अधिक प्रचार है जिसके कारण आर्य संस्कृति का कुछ रूप वहाँ क़ायम है। परन्तु क्या रूप है? राजनीतिक कारण तो जो होंगे सो होंगे, पर दक्षिण में देववाणीत्व की अविकसनशीलता वहाँ की द्राविड़ बोलियों से सदा अभिभूत रही। अतएव वहाँ की आर्यता भी अधिकाधिक संकोचशील बनती गई। आज वहाँ आर्य संस्कृति है, परन्तु संस्कृति वालों के पास पारस्परिकता की संयोग-वृत्ति के लिए कोई आर्य भाषा नहीं है। दक्षिण की आर्य संस्कृति दाक्षिणात्यों को ब्राम्हण-अब्राह्मण दलबन्दी में आज अपना गौरव दिखाती है। दूसरे शब्दों में दक्षिण की आर्यता--पारस्परिकता, व्यापक सामाजिकता से हीन है।

हिन्दी का प्रातिनिध्य आज खड़ी बोली कर रही है। ब्रजभाषा की संकीर्णता से उठ कर आज हिन्दी ने, खड़ी बोली के रूपमें, एक विशाल सामाजिकता का पथ ग्रहण किया है। अन्ततः प्राक्पाणिनीय आर्यभाषा की इस प्रपर-पौत्री ने आज की राष्ट्रीयता के योग्य अपने को बना कर अपनी प्रमातामही की आत्मा को पुनरुज्जीवित करने की चेष्टा की है। परन्तु आज की राष्ट्रीयता उस पुराने समय की राष्ट्रीयता से अधिक क्लिष्ट और संकुल है। इस राष्ट्री-

यता की माँगों और आवश्यकताओं को तो राष्ट्रनेता और राजनीतिज्ञ ही समझेंगे। परन्तु इस राष्ट्रीयता का विकास यदि आर्य जाति की विशालता के रूप में भी होना है—और भारत में उसका दूसरा कोई रूप हो ही क्या सकता है?—तो वर्तमान आर्यभाषाभाषियों को आर्य संस्कृति के मूल तन्तुओं को अपने हाथ से नहीं छोड़ना है। आर्य संस्कृति का मूल-तंत्र अध्यात्म-चेतना है। बिना उस के राष्ट्र-निर्माण की योजनाओं में कहीं-न-कहीं बालू की भीत निकल पड़ने की शंका बनी रहेगी।

यह शंका निर्मूल नहीं है। जिन प्रान्तों से हिन्दी का अभ्युत्थान हुआ है उन्हे, हम देख चुके हैं, अपनी मूल संस्कृति के अवशेष चिन्हों को थामे रहने में सदियों तक दुर्धर्ष धक्के खाने पड़े हैं, जिनमें संस्कृति का क्षुद्र अवशेष भी बार-बार गया-गया-सा हो गया है। साधु-सन्तों की कृपा से जो कुछ बचा रहा वह भी, बाद की संकर-सामाजिकता में पल्लवित होता हुआ भी, संकर के विकारों से अमिश्र नहीं रहा। फिर मुसलमानों के बाद अँग्रेजी संस्कृति और राजनीति के प्रहार अलग हुए हैं। मध्यकाल से ही धीरे-धीरे अर्थवाद अध्यात्म को दलित करता रहा है और यह दलन-कर्म आज अत्यन्त घोर हो उठा है। इस

सांस्कृतिक विकृति के परिणाम में ही आज हिन्दीभाषी प्रान्तों की सामाजिकता बनती-बनती भी जर्जर होती जा रही है। आज का हमारा समाज असंख्य उपजातियों के अन्तः-समाजों और प्रत्यन्तः-समाजों की 'तू-तू मैं-मैं' से पीड़ित है। उसमें इस समय तो यह शक्ति नहीं दिखाई देती कि वह इस 'तू-तू मैं-मैं' को रोक सके। सामाजिक सहयोग और असहयोग का परिणाम हम आङ्कतों के उदाहरण में देख चुके हैं। फलतः भाषा के क्षेत्र में तरह-तरह की समस्याएँ आज उठ रही हैं—भाषा संस्कृत-बहुल हो, तद्भवरूपिणी हो, आमफ़हम हो, खिचड़ी हो, हिन्दुस्तानी हो, अमुकतानी हो, आदि। इतना ही नहीं। हिन्दी ने अभी अच्छी तरह अपना घर बसाया भी नहीं है, उसकी थोड़ी-सी समृद्धि पर ही भाई-भतीजों का बटवारे का झगड़ा शुरू होगया है। ये सब बातें आधुनिक आर्यों की अनार्यता, उनकी अध्यात्म-चेतना के एकान्त लोप, की सूचक हैं। अर्थवाद और अध्यात्म का साथ-साथ चलना ही सुचिर और सुदृढ़ जीवन के हित में श्रेयस्कर होता है। बंगला, मराठी और गुजराती वाले तथा दक्षिण के आर्य भी यदि इस बात पर गौर करेंगे तो वे साम्प्रदायिकता को छोड़ कर साध्य की एकोद्दिष्टता में अपनी भाषाओं को

अधिक विकसनशील बनाते हुए उन्हे हिन्दी के निकटतर लाएँगे, जिस तरह कि हिन्दी भी उन्हे अपनाती जाएगी। हिन्दी में अपनाने की कितनी सामर्थ्य है यह आज सब लोग जानते हैं।

वर्तमान हिन्दी

यों तो वर्तमान हिन्दी, अर्थात् खड़ी बोली, का सूत्रपात अब से छै-सात सौ वर्ष पहले ही हो चुका था और गत शताब्दी के आरम्भ से अँग्रेजों की शासन-सम्बन्धी आवश्यकता के कारण उसकी सामाजिकता की नींव भी पड़ने लगी थी, परन्तु उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त-भाग में ही हुई है। कोई भाषा सामाजिक भाषा तभी होती है जब उसमें साहित्यिक चेतना का उदय होता है। साहित्यिक चेतना सामाजिक व्यक्तियों के सांस्कृतिक विनिमय, उनकी सांस्कृतिक परस्परता, और उनके आत्मप्रसारण की चेतना है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तभाग में भारतेन्दु के नेतृत्व से सामाजिक साहित्यिकों का एक ऐसा समुदाय-सा उद्भूत हुआ जिसे धुन और लगन थी और जो समय की भावनाओं का योग ग्रहण कर अपनी संस्कृति और भाषा के उद्धार-कर्म में जुट गया और जुटा रहा।

सौभाग्य से वह समय भी बड़ा अनुकूल था। ग़दर की हलचल से निबटने के बाद समाज में स्थिरता आगई

थी। रेल और डाक की व्यवस्था से व्यवहार-पारस्परिकता के क्षेत्र का विस्तार हो चुका था। सैनिक विद्रोह ने यदि जनता के हृदय में राष्ट्रीय भावना की कुछ जड़ जमाई होगी तो उसकी विफलता से जन-चेतना में सामाजिक और सांस्कृतिक वांछा का भी कोई अंकुर पैदा हुआ होगा। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में हिन्दी भाषियों का वंग-साहित्य से भी थोड़ा-बहुत सम्पर्क हो गया था, जिसमें लालित्य के साथ-साथ राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हो चला था। बिहार से लेकर राजपूताना के पश्चिमान्त तक तथा उत्तर-पंजाब से लेकर मध्य-प्रदेश तक जनता की सामाजिक भाषा का सिंहासन खाली पड़ा हुआ था। ब्रजभाषा बीत चुकी थी और उसमें गद्यात्मक लोक-व्यवहार की सर्व-सामाजिकता न थी। इस अवस्था में अँग्रेज़ों से उपलालित खड़ी-बोली-हिन्दी गद्य-व्यवहार की सामयिक प्रेरणा को लेकर भारतेन्दु-प्रभृति संस्कृति-सामाजिकों के उद्योग से सिंहासन पर बिठादी गई। उसकी कोई प्रतिद्वन्द्विनी न थी। उसकी प्रारम्भिक कर्मठता गद्य में ही थी। पद्य में अभी ब्रजभाषा का स्मृतिसंस्कार चलता रहा। परन्तु बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से खड़ी बोली ने अपनी सामाजिक गद्यप्रतिष्ठा में सफलता प्राप्त कर, पद्य में भी

अपनी योग्यता भली भाँति प्रदर्शित करनी आरम्भ कर दी।

परन्तु एक तो इसलिए कि खड़ी बोली की यह प्रतिष्ठा अभी नई ही थी, जिसे अपनी पूर्ण शक्ति के संग्रह के लिए कुछ कालक्रम की अपेक्षा होनी ही चाहिए थी—उसका क्षेत्र भी तो कितना विशाल था—और, दूसरे, शायद इस कारण से कि भारतेन्दु-युग के बाद, कदाचित् राजनीतिक प्रोरे-जना का कुछ अभाव-सा हो जाने से खड़ी बोली की सामाजिकता में से राष्ट्रीयता का उद्दीपन थोड़ा-बहुत अवश्य शिथिल हो गया होगा, बीसवीं शताब्दी के प्रथम पाद में खड़ी बोली की प्रगति अधिक तेज़ न रही। यदि इस समय में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'सरस्वती' न निकलती होती तो यह प्रगति शायद और भी शिथिल होती। इस ज़माने में हिन्दी (खड़ी बोली) इतनी स्वावलम्बिनी न हो सकी थी कि वह बिना किसी प्रेरक के, अपने ही आवेग से, आगे बढ़ती चलती। इस प्रेरणा की सन १९१८ तक उसे ज़रूरत पड़ती है जब कि मुंशी प्रेमचन्द के 'सेवासदन' ने, इसमें उपन्यास-प्रसंग से एक नई जिज्ञासा-प्रवृत्ति पैदा करके, उसकी गति के लिए एक प्रकार की एड़ का काम किया था। सामाजिक-व्यावहारिक साहित्य में उपन्यास का स्थान तो सर्वप्रथम रहता ही है।

सन् १६१८ से ही भारत के लिए सामान्य रूप से और हिन्दी के लिए विशेष रूप से पुनः एक संक्रमणयुग का आरम्भ हो जाता है जो अभी तक चल रहा है। सन् १६१८ में यूरोपीय युद्ध की समाप्ति हुई और युद्ध में सहयोग देनेवाले भारतवासियों को अँग्रेज़ी शासन की प्रतिज्ञाओं के आधार पर अपनी भाग्योन्नति की आशा हुई। जब किन्हीं कारणों से वह आशा पूर्ण न हो सकी तो असन्तोष हुआ और राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ हुए। परिणाम में जलियानवाला बाग़ की घटना हो गई और असहयोग आंदोलन उमड़ उठा। असहयोग-आन्दोलन में एक भयंकर भूचाल का आवेश था। देखते-देखते सारे देश में एक बिजली-सी दौड़ गई।

उस बिजली की लहर में, मुझे ठीक याद है, लोग खड़े-खड़े कवि और लेखक बन जाते थे। मेरे एक परिचित सज्जन ने, जिन्होंने शायद घरेलू चिट्ठियों के अतिरिक्त और कुछ कभी भी नहीं लिखा होगा, दो घंटे की तल्लीनतापूर्ण बैठक में 'बोल गई माइ लार्ड, कुकड़ूँ कूँ'—नामक एक सोलह-पेजी प्रचार-काव्य लिख डाला था। इस प्रकार की न मालूम कितनी काव्यग्रन्थिकाएँ उस समय लिखी गई थीं और वे इतनी बहुप्रचार हुई कि मुझे यह भी अच्छी

तरह याद है, 'सेवासदन' की भाँति 'माइ लार्ड कुकड़ूँ कूँ' की भी फ़रमाइश एक बार मुझसे की गई थी। कहानी, उपन्यास और नाटक को भी विशेष उत्तेजना मिली जिन में नाटकों का उद्गम मुख्य रूप से उस पंजाब से हुआ, जिसमें सदियों से कोई सामाजिक-साहित्यिक विरासत का रूप न देखा गया था। तीसरा प्रकार दार्शनिक ढंग की राजनीतिक पुस्तकों का था जिनकी भाषा युद्धक्षेत्र की भाषा थी। चतुरसेन शास्त्री का 'सत्याग्रह और असहयोग' ऐसी पुस्तकों में प्रमुख है। चौथे प्रकार की पुस्तकें वे थीं जो उस समय के प्रश्नों का ऐतिहासिक रूप से विवेचन करती थीं। 'खादी का इतिहास', 'असहयोग का इतिहास' आदि पुस्तकें इसी श्रेणी की हैं। सारांश यह है कि जो या जिस प्रकार की भी पुस्तक उस समय लिखी जाती थी उसके कर्तृत्व में एक ही सामान्य प्रेरणा काम करती थी—देशप्रेम और देशोद्धार। पढ़नेवालों में भी यह प्रेरणा इतनी बलवती थी कि जो कुछ भी उसके नाम पर लिखा जाता था उसका सहज ही में स्वागत कर लिया जाता था।

१९१८ की युद्धसमाप्ति के बाद से ही पाश्चात्य विचारों की संक्रान्ति भी भारत में एकदम से हुई। स्वयं युद्धोत्तर पश्चिम-जगत् में भी एक नई विचारक्रान्ति पैदा

हो गई थी। पश्चिम की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक विचारधाराओं से सम्बद्ध साहित्य की ओर भारतीय जनता का कौतूहल सजग हो उठा। विश्व-इतिहास के प्रवर्तनों को जानने की प्रवृत्ति भी पैदा हुई। विभिन्नदेशीय लोकसेवियों, राष्ट्रसेवियों, शहीदों के जीवनचरित्रों की माँग होने लगी। शुद्ध साहित्य के क्षेत्र में 'सेवासदन' के द्वारा नए ढँग के साहित्यिक औत्सुक्य का प्रादुर्भाव होने पर पाश्चात्य ललित साहित्य का पठन-पाठन और तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों की जिज्ञासा का भी प्रचार हुआ। पाश्चात्य साहित्य इस समय तक खूब समस्यात्मक हो चुका था। इधर भारत में भी समस्याओं की कोई कमी नहीं थी। पश्चिम की अपेक्षा तो वे अत्यन्त अधिक हो थीं--गार्हस्थ सामाजिक और राष्ट्रीय। समस्यापूर्ण भारत के लिए उस के शासनकर्ता सभ्य-स्वतंत्र यूरोप के समस्यात्मक साहित्य की बड़ी अपील रही होगी। उन दिनों सबसे पहले राष्ट्रीय समस्याओं पर ध्यान जाना स्वाभाविक था। असहयोग-आन्दोलन के शान्त हो जाने के बाद जहाँ राष्ट्रीय समस्याओं की विचारणा कुछ-कुछ स्वभाव-सी बन कर जरा मन्दगति हुई वहीं सामाजिक और गार्हस्थ समस्याएँ साहित्य की मुखापेक्षी बन गईं। अतः हम देखते हैं कि १९१८ के,

विशेषतः १९२० के, बाद का अधिकांश साहित्य एकदम समस्यात्मक है! १९१८ में छपनेवाला प्रेमचन्द का 'सेवासदन' स्वयं एक समस्यात्मक उपन्यास है। वैसे तो भारतीय समाज की समस्याओं पर साहित्यिक रूप से दृष्टिपात करनेवालों में भारतेन्दु का नाम ही अग्रगण्य है, परन्तु हम देख चुके हैं कि उनके बाद हिन्दी-साहित्य कुछ उदासीन-सी प्रगति के साथ आगे बढ़ा है। अतः नए संक्रमण-युग में समस्यावाद के सूत्रपात करनेवाले प्रेमचन्द ही हैं, जिनका पाश्चात्य उपन्यासों का अध्ययन भी विशाल था। इस समस्यावाद की स्थिर प्रतिष्ठा उस समय के राष्ट्रीय आन्दोलन तथा विचार-संक्रान्ति द्वारा हुई।

प्रेमचन्द के इस पहले उपन्यास की प्रणाली भी अब तक चली-आती हुई केवल घटना-गणनात्मक उपन्यास-प्रणाली से भिन्न थी और, यह कहा जा चुका है कि, उसके प्रकाशन से हिन्दी जनता में साहित्यकला-सम्बन्धी एक नई उत्सुकता, जिज्ञासा, पैदा हुई थी। अतः संक्रान्तिकाल में आयात पश्चिमी विचारधाराओं में साहित्य और कला की नवीन विवेचना का भी स्थान रहा। अभी तक साहित्यिक विवेचना का रूप पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रचारित 'सरस्वती'—वाला रूप था, जो अधिकतर बाह्य-

वैनिष्ठ (objective) ही था। प्राचीन रस-सिद्धान्त के आधिकारण्य (subjectivity) को लोग हजार-आठ-सौ वर्ष से भूल चुके थे। नवीन विवेचना-प्रणाली अधिकरणनिष्ठता को लिए हुई थी। अब तक यह विवेचना-प्रणाली केवल सिद्धान्त में, प्रयोग में नहीं, विश्वविद्यालयों के परीक्षालक्ष्य तक ही रुद्ध थी और शिक्षणकार्य के अतिरिक्त अन्य कहीं उसका उपयोग न था। अब वह सामाजिक संस्कृति में धीरे-धीरे समाविष्ट होने लगी। यहाँ एक बार फिर, यद्यपि परोक्ष रूप में ही, प्रेमचन्द के आभार को मानना पड़ेगा। हिन्दी में लेखकों की विज्ञापनबाजी का प्रारम्भ भी प्रेमचन्द से ही हुआ है। उनके प्रकाशकों तथा मित्रों ने जब उनके विज्ञापन के लिए, समीक्षा के लिए नहीं, अतिरंजित प्रशंसा के लेख छपाने शुरू किए तो उस की प्रतिक्रिया मे साहित्य के दूसरे विद्यार्थियों ने भी प्रशंसात्मक या अप्रशंसात्मक समीक्षा के लेख लिखे। इस से हिन्दी को यह लाभ हुआ कि उसमें मीमांसात्मक बुद्धि की लालसा अधिकाधिक विकसित होती रही और साहित्य-विवेचन भी साहित्यिक संस्कृति का एक क्रमांग बन गया। फिर तो साहित्य और उसकी विवेचना ने एक दूसरे को क्रमशः प्रतिकृत करते हुए हिन्दी की खूब श्रीवृद्धि की।

असहयोग-आन्दोलन की समाप्ति के बाद से ही यह प्रति-क्रिया आरम्भ हो जाती है।

सो, असहयोग-आन्दोलन के परिणाम-काल में अपने साहित्य की दो विशेष प्रवृत्तियाँ हमें दिखलाई देती हैं—सामाजिक समस्यात्मकता तथा साहित्य-विवेचना। समस्या को लेकर हमारा-साहित्य जीवन-व्यवहार की ओर अग्रसर होता है, विवेचना को लेकर शुद्ध आनन्द-संस्कृति की ओर। और ये दोनों तत्व भी एक-दूसरे को यहाँ तक प्रतिकृत करते हैं कि ललित साहित्य का जो अंश समस्याओं को अपनाता है वह भी साहित्य-संस्कृति से एकदम बहिर्भूत नहीं रहता। इसके उदाहरण स्वयं प्रेमचन्द ही हैं। इससे भिन्न वह साहित्य है जो शुद्ध संस्कृति के अनुशीलन में ही अपने को सफलीभूत करता है।

तथापि, जो समस्यात्मकता परिस्थितियों के प्रभाव से समाज की जीवन-चेतना में प्रवेश कर गई है उससे यह शुद्ध संस्कृति का अनुशीलक साहित्य भी एकदम अछूता नहीं रह सकता। 'समस्यात्मक' और 'सांस्कृतिक' के रूप में द्विधा होने पर साहित्य के जो वर्ग बन जाते हैं वे स्वयं ही जैसे साहित्य की समस्या के हेतु बन जाते हैं।

तब आदर्शवाद, और यथार्थवाद कला कला के लिए है अथवा नहीं, तथा सत्य, शिव और सुन्दर के योगायोग आदि के आकार में साहित्य की निजी समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। मूलतः तो ये समस्याएँ पाश्चात्य साहित्य की ही समस्याएँ हैं जो पश्चिमी विवेचना-पद्धति की अधि-करणता (subjectivity) के साथ-साथ यहाँ आई और यहाँ के समस्यात्मक वातावरण के प्रभाव से, धीरे-धीरे क्या, जल्दी ही सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का स्वाभाविक अंग बन गई।

यही नहीं; अधिकरणानुवृत्ति के प्रसरण में जीवन-स्रोतान्वेषिणी, कहीं-कहीं अध्यात्म के संस्पर्श से भी अभि-लक्षित होती हुई, किसी चारित्रिक संस्कृति की जिज्ञासा भी हिन्दी में प्रादुर्भूत हुई। यह व्यक्ति-सम्बन्धिनी सामा-जिक समस्या पहले-पहल अपने स्थूल लौकिक रूप में प्रेमचन्द में दिखाई दी थी। प्रेमचन्द में तो वह इतनी समस्यात्मकता लिए हुई थी कि वह शीघ्र ही साम्प्रदायिकता की विकृति में परिणत हो गई। अकेले प्रेमचन्द ने समाज में न मालूम कितने सम्प्रदाय देख डाले। यह युग-भावना तो न थी, क्योंकि प्रेमचन्द के बाद उसे उनके रूप में चलानेवाला हिन्दी को कोई न मिल सका। परन्तु संक्रान्ति

के प्रथम आवेश के रूप में वह नई युगभावना के प्राक्कथन के समान कुछ स्वाभाविक-सी तो अवश्य थी। क्रोध के प्रथम आवेश में हम प्रायः हर किसी को गाली देते हैं कि नहीं ? प्रेमचन्द का सम्प्रदायवाद युग का थोड़ा सा संदेशहर होता हुआ केवल इतनी-सी बात को आवेश की विकृति के साथ कहता है कि हम किसी भी स्थिति में सन्तुष्ट नहीं हैं। 'सेवासदन'-उपन्यास नई संक्रांति का मानों अग्रदूत था, अतएव उस संक्रान्ति के प्राथमिक आवेश की विक्रिया का भार भी प्रेमचन्द को ही उठाना पड़ा।

कहना केवल यह है कि परिस्थितियों के प्रभाव से जो कुछ भी रूप प्रेमचन्द ने व्यक्तिगत चरित्र की इस समस्या को दिया हो, साहित्य में उसकी टटोल करनेवाले वह पहले सज्जन हैं। चरित्रचित्रण का अभिप्राय ही चरित्र-सम्बन्धी समस्याओं का समाधान ढूँढना है। प्रेमचन्द के 'सेवासदन' की यही एक विशेषता थी जिस की चर्चा ने जनता को एकदम उनकी ओर आकर्षित किया, और तभी से उपन्यास-साहित्य के सम्बन्ध में चरित्रचित्रण के महत्व की भी चर्चा होने लगी। समस्यात्मक चेतना से आप्लावित हिन्दी-भूमि में वैयक्तिक

चरित्र की जिज्ञासा साहित्योत्कर्ष का प्रसाधन बन कर रह गई; केवल उसका प्रेमचन्दीय विद्रोहात्मक रूप न बसा। प्राक्कथन देर तक नहीं चला करता। सामूहिक असन्तोष का परिणाम अन्ततः संगठन है। असन्तोष से आरम्भ होनेवाली देश की युगभावना का वास्तविक स्वरूप तो संगठन ही था—भारत एक राष्ट्र बनने जा रहा था।

संगठन की क्रिया में चरित्र-तथ्यों के मूल में बसनेवाली आदिम मानव वृत्तियों के संयोजन की चेष्टा रहेगी, जिसमें उदात्तता की ध्वनि अपेक्षित होगी। प्रेमचन्द के साहित्य से इतर अधिकांश साहित्य में हमें इस संयोजन-चेष्टा की रूप-रेखा दिखाई देगी। वैसे तो प्रेमचन्द के ही एक-दो बाद के उपन्यासों में भी आवेश का कट्टरपन बहुत-कुछ कम हो चला है। संयोजन-चेष्टा के सबसे बड़े उन्नायक हमें मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद दिखाई देते हैं। अपनी विस्फूर्ति के लिए ये दोनों ही, सिद्धान्ततः भी और विषयतः भी, मूल आर्य संस्कृति की ओर देखते हैं जो अपनी उदात्तता की विशालता में सासानी हैं। इन दोनों के काव्य-कथानक आर्य संस्कृति के इतिहास से ही लिए गए हैं। उनके पात्रों का झुकाव आर्य-सांस्कृतिक चरित्र-तत्वों की ओर है। उनका वातावरण-

चित्रण भी अधिकतर रोमान्टिक ढंग के आनन्दकैवल्य की उल्लासमयी–विकासमयी मानसिक विशालता की रुचि को लिए हुए है, जो कि समस्त प्राचीन संस्कृत-साहित्य की वृत्ति है। प्रसाद में तो यह रोमान्टिक मनोवृत्ति बहुत ही बढ़ी हुई है, यहाँ तक कि उनकी उत्पाद्य (कल्पनात्मक) रचनाओं में भी वातावरण और चरित्र की उदात्तता उन रचनाओं के कथानकों को प्राचीन संस्कृति-युग की घटनाओं का सा आभास दे देती है।

गुप्त और प्रसाद के कथानकों और वातावरण का ज़िक्र उनके चरित्रों की सांस्कृतिक-एकनिष्ठता के आग्रह से ही कर दिया गया है। वातावरण और कथानक चरित्र की भूमिका का काम करते हैं, रसिक के लिए वे चरित्रविशेष के अनुकूल मनोभूमि तैयार करते हैं। चरित्रचित्रण का यह संगठनात्मक रूप, जो हमें गुप्त और प्रसाद में मिलता है, मानसिक विशालता की भूमि में पल कर समाज और मानवता के साथ अपना सामंजस्य जमाता हुआ भारतीय राष्ट्रचेतना की युगभावना का सच्चा प्रतीक है। यह कहा जा सकता है कि वह अपने समय की यथापरिमाण चेतना से कई कदम आगे बढ़ा हुआ है। निस्सन्देह प्रसाद में तो वह बहुत ही आगे बढ़ा हुआ है। बात यह है कि समस्याओं

की जीवन-चर्या में आदर्शवाद कहीं आकर उन्हें छू लिया करता है। चारित्रिक समस्याओं को तो वह बहुत ज्यादा और विशेष भावुकता के साथ, छूता है। क्या हम यह नहीं देखते कि चरित्रचित्रण के साथ ही साथ आदर्शवाद ने भी संक्रमणयुग की हिन्दी में प्रवेश किया, और उसका सबसे अधिक ज़ोर का पहला डंका बजानेवाले प्रेमचन्द ही हैं। अवश्य ही गुप्त और प्रसाद भी आदर्शवादी हैं, और सही अर्थों में आदर्शवादी हैं; क्योंकि उनके साहित्य की साधना संगठन है। भावुकता और आदर्शवाद दोनों ही वास्तविकता से कुछ-न-कुछ हटे होते हैं-उनमें अतिरंजना रहती है। यह अतिरंजना यदि साधना की लगन से सम्बन्ध रखती है तो दो क़दम आगे चलती है, यदि आवेश की अतिरंजना से (जो स्वयं मिथ्या है) सम्बद्ध होती है तो बहुत क़दम पीछे रह जाती है, परन्तु किसी भी हालत में वह यथार्थ के साथ नहीं चल सकती।

फिर, दो क़दम आगे चलनेवाली चारित्रिक समस्या का सम्बन्ध समस्या-आकुल व्यक्ति के मनःक्षितिज की सहज विशालता से भी है, यद्यपि यह सहज विशालता भी किसी थोड़े अंश में युगजात परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब धारण करती है। प्रसाद में यह विशालता बहुत अधिक

बढ़ी हुई है जिसका परिणाम यह होता है कि उनकी संग-ठनवृत्ति समाज से आगे बढ़ कर अखिल सृष्टि का आलिंगन करने लगती है। यहाँ अध्यात्म का संस्पर्श भी हो जाता है जब कि व्यक्ति के चरित्रगुण जीवोपाधि की अवस्था को आगे खींचते हुए किसी विश्वात्म—चेतना का संकेत करने लगते हैं। जीवोपाधि की अवस्था तक रहती हुई यह संगठनवृत्ति छायावाद के रूप में अवतीर्ण होती है, उससे आगे विश्वात्म-चेतना में विकास करके वह रहस्य-मयी (रहस्यवादात्मक) बनने लगती है। भारत का प्राचीन रूपकात्मक साहित्य संगठनवृत्ति की इसी अखिलात्मक विशालता की संस्कृति को लिए हुए है। वर्तमान हिन्दी में इस वृत्ति का कौतुक रवीन्द्रनाथ टैगोर की गीतांजलि से अंकुरित हुआ था, परन्तु साहित्य—रूप में उसके उन्नायक प्रसाद ही हैं। युगभावना की अपेक्षा अपने प्रसारण में अधिक तीव्रगति होते हुए भी, प्रसाद अपने साथ युगभावना की आत्मा को लिए हुए हैं। इसका प्रमाण यह है कि प्रसाद, प्रेमचन्द के समकालिक होते हुए भी, अपने लिए एक ऐसा सहयोगी और अनुवर्ती समाज प्राप्त कर सके जो अनेक वर्ष तक हिन्दी कविता की सांस्कृतिक चेतना को अपने अधीन किए रहता है, यद्यपि परिस्थितियों की

अनुकूलता प्रेमचन्द के लिए ही सर्वाधिक थी। इसका कारण तो यही है कि प्रसाद ने आर्य जनता की इस भूमि में अपने समय की भावना का मौलिक आर्य संस्कृति के साथ, जो अपनी विशालता में पूर्ण मानवता की संस्कृति है, सामंजस्य स्थापित किया है। युगभावना न भी होती तो भी वे, अपनी सांस्कृतिक जिज्ञासा की विशाल मानवीयता के नाते, किसी भी युग में रचना करके सफल हो सकते थे। प्रेमचन्द को अपने युग की उत्तेजक परिस्थितियों की आवश्यकता थी।

समस्यात्मकता वैसे भी संक्रमणयुग का स्वाभाविक उपलक्ष्य है और जब तक संक्रान्ति की परिस्थितियाँ शान्त होकर सामाजिक चेतना में स्थिरता पैदा नहीं करतीं तब तक समस्याओं का उत्थान-पतन बराबर चलता रहता है और, फलतः, उसमें प्रतिक्रियाओं की क्रीड़ा भी बराबर चलती रहती है। प्रेमचन्द के अति स्थूल संकुचित साम्प्रदायिक आदर्शवाद की प्रतिक्रिया छायावाद था, जो सूक्ष्मतर लोकों की सैर करना चाहता था। संक्रमणकाल की परिस्थितियाँ, सांस्कृतिक जिज्ञासा की अपेक्षा रखती हुई भी, अपनी प्रेरणा में तो भौतिक जीवन की समस्याओं को ही लिए हुए थीं। अतः छायावाद की प्रतिक्रिया भी

अवश्यम्भावी-सी ही थी जिसमें हालावाद, प्रगतिवाद आदि अनेक छोटे-छोटे क्षणिक वादों के हमें दर्शन होते हैं। इन वादों में चारित्रिक जिज्ञासा तो बहुत है, परन्तु उसकी प्रयोगभूमि हमारा वर्तमान समस्यापूर्ण भौतिक जीवन ही है। मानों छायावाद की दो क़दम आगेवाली चाल को संक्रान्ति की अस्थिर असमंजस गति ने पीछे खींच कर अपने साथ मिला लेने की चेष्टा की हो; क्योंकि इन वादों की चारित्रिक जिज्ञासा की ध्वनि सामाजिक-वैयक्तिक सामंजस्य को तलाश करने की ही है, समाज को छिन्नखंड करके व्यक्ति के खांडिक उत्तरदायित्व को ढूँढने की नहीं।

संक्रमणयुगीन समस्याबाहुल्य में अस्थिर मनोवृत्ति का होना स्वाभाविक है। १९१८ से होनेवाले नवीन हिन्दी युग में समाज की अस्थिर मनोवृत्ति का लक्षण बीस-पच्चीस वर्ष में ही घटित हो जानेवाले अत्यधिक अस्थायी वादों के रूप में मिलता है। समस्याबाहुल्य की अस्थिरता में अत्यधिक चंचलता और गति तथा प्रयोगों की जल्द-बाज़ी भी परिलक्षित होती है, जिससे अत्यधिक वादों के साथ-साथ हिन्दी के इन वर्षों में अत्यधिक प्रकाशन भी हुआ है। समस्याबाहुल्य की अस्थिर मनोवृत्ति में समाधानों

की लालसा से बौद्धिक प्रक्रिया भी विशेष सजग हो जाती है। अतएव वर्तमान हिन्दी में जहाँ एक ओर समस्याजात संवेदन भावुकता के रूप में प्रस्फुटित होते हैं, वहीं समाधान-चेष्टा के प्रधावन में बुद्धिवाद का भी विशेष उत्कर्ष देखने में आता है। प्रसाद में तो ये दोनों ही बातें अपनी चरमता को पहुँची हुई हैं। आर्यजाति के सुदीर्घ इतिहास में, ललित साहित्य में भावुकता और बुद्धिवाद का यह संयोग पहले-पहल वर्तमान हिन्दी में ही दिखाई दिया है। परन्तु वर्तमान हिन्दी की भावुकता का रूप प्राचीन आर्य साहित्य के रसवाद का रूप नहीं है, जिसका हेतु उसका बुद्धिवाद ही—दूसरे शब्दों में, समस्याबाहुल्य से उत्पन्न संवेदनों की चंचलता ही—है। यह परिस्थिति अमिश्र सांस्कृतिक आनन्द की परिस्थिति नहीं है। संक्रान्ति की परिस्थिति वैसी हो ही कैसे सकती है?

संक्रान्ति और उसके समस्याबाहुल्य और उसकी अस्थिर मनोवृत्ति का यह युग आर्य संस्कृति और आर्य भाषा के सहज सौभाग्य का एक चिर अपेक्षित स्वर्ण-युग है। सहज इसलिए कि विशालता सदा के लिए संकोचावस्था में अवरुद्ध नहीं रह सकती। विशालता ही तो स्वतंत्रता है। उसे संकुचित करके दबा रखने में उसका

प्रसार-बल भी चुपचाप संचय की केन्द्रीभूत आवेग-सामर्थ्य का उपार्जन करता जाता है। जितना ही उसे दबाया जाता है उतनी ही उसमें आवेग—सामर्थ्य भी अधिक होती है। साइकिल के ट्यूब में हवा को दबा-दबा कर बराबर भरते ही जाइए और फिर उसके विस्फोट में दबी हुई वायु के चतुर्दिक् आत्मप्रसार के आवेग को देखिए। या फिर, दबा-दब हवा भरने के बाद अपनी साइकिल पर किसी ढलकाव की ज़मीन के ऊपर तेजी के साथ सवारी गाँठिए, और तब कहीं सहसा ट्यूब में ज़ोर का पंक्चर हो जाने दीजिए। आर्यविशालता को समाज की तहों में दबते—दबते कम-बेश एक हज़ार वर्ष हो गए थे। अत: १६१८ में भारतीय समाज की ऊपरी तहों के उखड़ने से जब उसमें पंक्चर हुआ तो आर्यता भी अपने हज़ार वर्ष के संचित आवेग के साथ चारों तरफ प्रसरित हो पड़ी। समस्याबाहुल्य ने चेतना के विकास के लिए असंख्य द्वार खोल दिए, समस्याजात संवेदनाओं ने उस चेतना को एड़ लगाई और समाधान—बुद्धि ने उसे दिग्विवेक की विचिकित्सा दी। विवेक की प्रथम विचिकित्सा में एक—एक समस्या के समाधान के लिए भिन्न—भिन्न दिशाओं की टटोल ही रहेगी—सहसा कोई प्रशस्त मार्ग न खुल जाएगा। परन्तु इससे साहित्य

के क्षेत्र का विस्तार तो बढ़ेगा ही। नाना वादों और सिद्धान्तों के अतिरिक्त वर्तमान हिन्दी में कई नए साहित्य-प्रकारों और अनेक नई-नई साहित्य-पद्धतियों का विकास हुआ है। ललित साहित्य के क्षेत्र में बुद्धिवाद की यह कर्मठता साहित्यिक विवेचन और आलोचना के अभ्युदय द्वारा हुई है। आलोचना ने अन्यथा भी, साहित्यिक स्पर्धा को प्रेरणा देकर, साहित्य की अभिवृद्धि में बड़ी उपयोगी सहायता दी है और उत्कर्ष की दृष्टि से उसके धरातल को ऊँचा उठाया है।

और ललित साहित्य में ही नहीं, समस्या और बुद्धि-वाद ने मिल कर शुद्धज्ञान—विज्ञान के क्षेत्र में भी खूब साहित्य-समृद्धि की है। इस तरह के साहित्य में आलोचना का स्थान तो प्रमुख है ही, क्योंकि उसका सम्बन्ध—सोत्र सांस्कृतिक चेतना में है, परन्तु समस्याओं के व्यवहारात्मक पक्ष में उपयोगी शास्त्रों को स्थान मिलता है। राजनीति, अर्थनीति, समाजवाद, इतिहास, भिन्न-भिन्न प्रकार के विज्ञान (यथा भौतिक विज्ञान, रसायन-विज्ञान, वनस्पति-शास्त्र, प्राणिविद्या, स्वास्थ्यविज्ञान अथवा आयुर्वेद आदि तथा इनके सम्बन्धी अंग) और तरह-तरह के शिल्प आदि उपयोगी शास्त्र हैं। इन सबको वर्तमान हिन्दी ने प्रश्रय

दिया है। दूसरी ओर, सांस्कृतिक चेतना के एकदम सामूहिक, सामाजिक, विकास का प्रमाणपत्र हमारे समाचारपत्रों तथा साहित्यिक मासिकपत्रों में उपलब्ध हो रहा है। इस चेतना के विकास का क्षेत्र कितना विशाल है इसका अनुमान इसी बात से हो सकता है कि सन् १९१८ से भी पहले से बम्बई, बंगाल, बिहार और यू० पी० प्रान्त हिन्दी-रचना तथा प्रकाशन में योग देने लगे थे और १९२० के बाद पंजाब तथा मध्यप्रान्त भी इस परम्परा में सम्मिलित होगए थे। राजपूताना के भी कतिपय विद्वान् (रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, श्रीयुत पुरोहित हरिनारायण आदि) अपनी सांस्कृतिक खोज का उपहार हिन्दी को दे रहे थे। संक्रमण-युग से पहले ही सांस्कृतिक चेतना के संगठन और उसकी सामाजिकता की विकासी सूचना हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तथा नागरी-प्रचारिणी-सभा की संस्थापना से मिल चुकी थी।

इतने थोड़े समय में हिन्दी की यह विशाल और बहुमुखी समृद्धि शायद संसार भर के सांस्कृतिक इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना हो। भारतवर्ष को एक छोटे-से महाद्वीप की भी गरिमा प्राप्त है। आज इस महाद्वीप का कुछ-कम अर्द्धांश, जो लगभग हजार—आठ-सौ वर्ष की

सांस्कृतिक अराजकता का शिकार रहा है, हिन्दी महारानी की छत्रच्छाया में अपनी संस्कृति के बिखरे हुए तन्तुओं को पुनः संगठित करने की चेष्टा में है। उसका संक्रमणयुग अभी चल ही रहा है और वह तब तक चलता रहेगा जब तक भारत की पूर्ण राष्ट्रसिद्धि न हो जाएगी। हिन्दी को राष्ट्रभाषा का उत्तरदायित्व तो मिल ही चुका है। भविष्य की बात तो कौन कह सकता है, परन्तु राष्ट्रभाषा ने अपनी संस्कृति को अभी तक यथाशक्ति बटोर कर जो एक शक्ति संगृहीत करली है, उसका यदि अपचय न होकर उपचय ही होता रहा तो पूर्ण राष्ट्रसिद्धि भी कभी-न-कभी सम्भावना की वस्तु बन जाएगी। क्योंकि संक्रान्ति के युगों में जहाँ विकास और अभ्युदय के अनेक द्वार प्रायः खुले दिखाई देते हैं वहीं सांस्कृतिक दुर्बलता, क्षुद्र स्वार्थों की संकीर्णता, के ह्रासकालीन अर्जित छिद्र-चिन्ह भी कहीं-कहीं अराजकता के बीजों को अपने भीतर छिपाए पड़े रहते हैं। भारतीय इतिहास के मुसलिम-युग में इसके प्रमाण विद्यमान हैं। असहयोग और सत्याग्रह के आन्दोलनों में बहुत से, बहुत से, देशसेवियों ने स्वार्थसिद्धि का गुप्त लक्ष्य रख कर देश के धन-रक्त से अपने को समृद्ध बना लिया था। संकीर्णता के रन्ध्रस्रावों में—चाहे वह

संकीर्णता व्यक्तियों की हो या खंडसमूहों की—रिसती हुई विशालता ठोसपन कहाँ से ला सकती है कैसे वह, संगठित हो सकती है ? अपनी दृश्यमान सामाजिकता की शक्ति से ही यदि हिन्दी अपने किन्हीं सम्भाव्य रन्ध्रों को बन्द रख सकेगी तो सचमुच ही वह भारतीय राष्ट्रसिद्धि का परिणामदर्शी सोपान बनी रहेगी।

भारत की राष्ट्रभाषा

गत बीस-पचीस वर्षों में, भारतीय राष्ट्रीयता की भावना के समुन्नत होने पर, एक भारतीय राष्ट्रभाषा की पुकार भी तीव्र और तीव्रतर होती रही है। राष्ट्रीय जाग्रति के उत्थान के साथ-साथ यह प्रश्न अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि भारत की राष्ट्रभाषा क्या हो, क्योंकि यह भी जाग्रति की समस्या का एक आवश्यक आधारभूत अंग है। राष्ट्र के भिन्न-भिन्न अंगों के पारस्परिक व्यवहार, प्रतिसंवादी सूत्रों के मिलाप और घनीकरण तथा विसंवादी सूत्रों की समंजसता के लिए एक ऐसी भाषा का होना जरूरी है जिसे सारा राष्ट्र आसानी से समझ सके। राष्ट्र यदि एक शरीर है और उसके भिन्न-भिन्न अंग उसकी इन्द्रियाँ, तो एकभाषात्व उसका मन है, जो सब इन्द्रियों का शरीर के हित के लिए उचित सहयोग कराता है। संसार के जितने भी समुन्नत राष्ट्र हैं सबकी अपनी-अपनी राष्ट्रभाषा है, अथवा यों कहना चाहिए कि वे समुन्नत ही इसलिए हैं कि उनकी अपनी-अपनी राष्ट्रभाषा है। भारत की अभी तक कोई सर्वमान्य राष्ट्रभाषा नहीं हो पाई है,

इसीलिए शायद भारत की राष्ट्रीयता में भी अभी कमी है। वह सच्चे अर्थों में अभी राष्ट्र नहीं बन पाया है।

भारत में जो थोड़ी-बहुत जाग्रति अब तक हुई है उसमें एकसूत्रता के कार्य का श्रेय अँगरेजी को मिलता है। परन्तु अँग्रेज़ी में दोष है। वह एकदम विदेशी भाषा होने के कारण दुरूह है। उसमें हिज्जे, उच्चारण और नए व्याकरण की कठिनाइयाँ हैं। फिर वह ऐसे शासकों की भाषा है जिन्हें भारत और भारतीयता से बहुत कम सहानुभूति है। अतः उसमें भारतीयों के लिए राष्ट्रीय तत्व का अभाव है। इसके विपरीत, कुछ-न-कुछ अराष्ट्रीयता को ही उससे प्रोत्साहन मिलता है। जो लोग थोड़ी-बहुत अँग्रेजी बोलना और उल्टा-सीधा सूट पहनना सीख जाते हैं उनको 'तुम' के स्थान में 'टुम', 'टूम' आदि बोलते हुए और किसी सीधे-सादे गरीब देहाती को "ब्लैक निगर" आदि कहते हुए प्राय: लोगों ने सुना है। भारत में अँग्रेज़ी पढ़ने का अँग्रेज़ी पोशाक की नक़ल से और अँग्रेज़ी पोशाक की नक़ल का शासकोचित्त अँग्रेजी विचार-सरणि की नक़ल से कुछ स्वाभाविक सम्बन्ध-सा बना हुआ दिखाई देता है। क्या एक भारतीय भी अपने को अँग्रेज़वत् समझने के मिथ्या अहंकार से भारत का

हित कर सकता है ? क्या कोई गुलाम भी झूठमूठ अपने को शासकों के दल का नक़ली मोर बना कर दूसरे गुलाम को फूटी-आँखों देख सकता है ? भारत में अँग्रेज़ी राज्य स्थापित हो चुकने के बाद उसके स्थिरीकरण पर विचार करते समय लाट मैकाले ने ठीक ही कहा था कि हिन्दुस्थानियों को अँग्रेजी सिखा दो और फिर सदियों तक उन्हें गुलाम बनाए रक्खो। अँग्रेजी ने देश में यदि कोई एकसूत्रता पैदा की तो उसने देश की राष्ट्रीयता पर भी कुठाराघात किया। अतः जिन लोगों ने पहले अँग्रेज़ी को देश के व्यवहार की व्यापक भाषा बनाने का प्रस्ताव किया था उन्होने शायद भारतीयों के चिरबद्धमूल गुलाम-संस्कारों पर विशेष ध्यान नहीं दिया था।

अँग्रेज़ी केवल राजभाषा है। वह राष्ट्रभाषा नहीं है और न हो सकती है। राष्ट्रभाषा में जहाँ व्यापकता अभिप्रेत है वहीं उसमें राष्ट्रभावना के पोषक तत्वों का होना भी अनिवार्य है और राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता का संयोग-सूत्र राष्ट्रदेश की मौलिक-संस्कृतियों में हुआ करता है। जो भाषा भारतदेश के सांस्कृतिक अपनेपन की रक्षा कर सकती है—(रक्षा का क्या प्रश्न है ? भाषा स्वयं संस्कृति का सहोदरा ही, अथवा उसी का एक अङ्ग है)—वही

भारत की राष्ट्रभाषा बन सकती है। ऐसी ही भाषा के द्वारा देशांगों में एकसूत्रता और पारस्परिक सहानुभूति तथा भारतव्यापी एकोद्दिष्टता का विकास हो सकता है।

तब यह कहना पड़ता है कि भारत की राष्ट्रभाषा कोई भारतीय भाषा ही हो सकती है। व्यवहार की दृष्टि से उसमें हिज्जे, उच्चारण, व्याकरण आदि की कठिनाइयाँ उतनी अधिक और उतनी व्यापक न होंगी जितनी किसी एकदम विदेशी भाषा को अपनाने से होती हैं, और उस का शब्दकोष भारतीय आवश्यकताओं के अधिक उपयुक्त रहेगा। राष्ट्रीयता की भी दृष्टि से, भारतीय भाषा बोलने वाले को झूँठी हंस की चाल चलने का अवकाश उतना अधिक न मिल सकेगा।

भारत में अनेक भाषाएँ हैं। इनमें से किसे हम अपनी राष्ट्रभाषा बनाएँ? व्यवहार की उपयोगिता को देखते हुए, व्यापकता के उद्देश्य से, यह आसानी से कहा जा सकता है कि जो भाषा सबसे सरल और देश में सबसे अधिक प्रचलित होगी वही राष्ट्रभाषा बनने की अधिकारिणी है।

प्रान्तीय भाषाओं में एकराष्ट्रता के तत्व तो मिल जाएँगे। किन्हीं-किन्हीं में तो काफी अधिक। बँगला और

मराठी भाषाओं ने भारतीय संस्कृति को बहुत-कुछ सँभाल-सुधार कर रक्खा है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि भारतीयता के नाते बंग और महाराष्ट्र देश परिवर्तन के युगों में बहुत समय तक देश के सामान्य शत्रुओं से प्रबल मोर्चा लेते रहे हैं और अपनी जातीय राष्ट्रीय भावनाओं को वे निरन्तर जागरूक रखते रहे हैं। सचमुच ही यदि देखा जाए तो संस्कृति और राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण से बँगला या मराठी से अधिक उपयुक्त अन्य कोई भाषा राष्ट्रभाषा-पद के लिए नहीं मिल सकेगी। परन्तु इन तथा दूसरी प्रान्तीय भाषाओं में, व्यवहार-दृष्टि से, बड़ी भारी त्रुटि अव्यापकता की है।

प्रान्तीय भाषाएँ अपने-अपने प्रान्तों में ही सीमाबद्ध हैं। राष्ट्र-सीमा के दृष्टिकोण से उन्होंने अपना विस्तार नहीं किया है। अतएव किसी ऐसी भाषा की अपेक्षा में, जिसने प्रान्तों की परिधि को पार कर लिया है, प्रान्तीय भाषाओं का राष्ट्रीयभाषा बनने का दावा अधिक नहीं हो सकता। परन्तु हमें यह बात कहने की कोई ज़रूरत भी नहीं है। प्रान्तीय-भाषा-भाषी इस विषय में काफ़ी उदार रहे हैं और वस्तुस्थिति को समझ कर उन्होंने अपने-अपने प्रान्तों की भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने का कोई अाग्रह भी

पेश नहीं किया है।

भारत में केवल दो भाषाएँ ऐसी हैं जो प्रान्तों की परिधि से बहुत काफ़ी बाहर निकल चुकी हैं और इसलिए राष्ट्रभाषा पदवी के लिए आपस में प्रतिस्पर्धिनी कही जा सकती हैं। ये हैं हिन्दी और उर्दू। ये किसी प्रान्तविशेष में सीमाबद्ध नहीं हैं। वैसे कहने को इन दोनों का स्थान संयुक्त प्रान्त है, पर संयुक्त प्रान्त से बाहर भी इन दोनों का प्रचार है। दोनों में तुलना करके देखा जाए तो हिन्दी अपने प्रचार में उर्दू से अधिक बढ़ी हुई है। संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त, राजपूताना, मध्यभारत, पंजाब, बिहार, ग्वालियर और बड़ोदा में यह फैली हुई है और गुजरात तथा बम्बई प्रान्त में भी इसका कुछ प्रसार है। केवल दक्षिण के कुछ स्थानों में अभी यह नहीं पहुँच पाई है। इसके विपरीत उर्दू का अधिकार केवल संयुक्त प्रान्त और पंजाब, भूपाल और हैदराबाद में है। हिज्जे और उच्चारण की दृष्टि से हिन्दी उर्दू से अधिक सरल है।

हिज्जे और उच्चारण का सम्बन्ध तो लिपि से है भाषा से नहीं। असल में हिन्दी और उर्दू मूलतः दो भिन्न भाषाएँ हैं भी नहीं। यह हम जानते हैं कि भाषा और संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा करता है। 'हिन्दी' कहने

से हिन्द की संस्कृति की ध्वनि निकलती है। जब संस्कृति एक होती है तो उसकी भाषा भी एक ही होती है, और एक ही भाषा होने की दशा में उसके दो नाम प्रायः नहीं रक्खे जाते। एक ही भारतीय भाषा के द्विनामधारिणी होने की दशा में भी संस्कृतिबोधक नाम 'हिन्दी' ही है और यही नाम मौलिक भी है। मुगल-दरबार ने इसी मौलिक नाम को अपनाया था, अथवा उसने ही, एक प्रकार से, देशभाषा का यह नाम दिया था। उर्दू का अभिप्राय लश्करी भाषा से है। जिस प्रकार टॉमी-इँग्लिश कह कर हम उस असंस्कृत अँग्रेज़ी भाषा का बोध करते हैं जिसे गोरे रंग-रूट आपस में बोला करते हैं उसी प्रकार उर्दू भी छावनियों की भाषा थी, और उसका संस्कृत रूप हिन्दी था। अमीर खुसरो और अब्दुर्रहीम खानखाना की कविता की भाषा यही हिन्दी थी, असंस्कृत लश्करी भाषा नहीं।

इस प्रकार लश्कर और संस्कृत समाज के भेद से, 'हिन्दी' और 'उर्दू' एक ही भाषा के दो नाम थे। शिष्ट समुदाय की भाषा के सम्बन्ध में 'उर्दू' नाम का प्रयोग तो बहुत बाद की चीज़ है जो जातियों की मानसिक विच्छेद-भावना का उदय होने पर राजनैतिक प्रभेद के उद्देश्य से घटित किया गया है। जब तक मुसलमान, भारत में बस

कर, भारत को अपना देश बना कर, भारतीय बने रहे—बाबर, हुमायूँ, अकबर और शाहजहाँ की उत्तरोत्तर क्रम से अधिकाधिक गृह्यमाण भारतीय संस्कृति से कौन इंकार करेगा ?—तब तक हिन्दी-उर्दू जैसे द्वित्व का प्रश्न सम्भव ही क्यों था ! यह तो मुसलमानों के ह्रास-काल में मुसलिम-राजवासना की स्पर्धा का फल हुआ कि उन्होंने बाद में, भारतीय होते हुए भी, पृथककरण की पद्धति में, सेमिटिक संस्कृति के तत्वों को अलग से प्रतिष्ठित करने की चेष्टा आरम्भ की। मुसलमानों के ह्रास का बीज भारतीय राज-नीति में नूरजहाँ के आगमन के बाद से ही बोया जा चुका था जो औरंगजेब के ज़माने में विशाल वृक्ष बन कर अन्त में अच्छी तरह चारों ओर फैल गया। उधर, भारत में अँग्रेज़ों का भी पदार्पण हो गया था।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि मुग़ल-संस्कृति स्वयं शुद्ध सेमिटिक संस्कृति नहीं थी। वह सेमिटिक, ईरानी (या आर्य) तथा मंगोल संस्कृतियों का मिश्रण थी। तभी यह सम्भव हो सका था कि मुग़लों ने भारत में बसने का संकल्प किया और यहाँ बस कर वे भारतीय बन सके। अँग्रेज़ों की संस्कृति में ऐसी कोई बात न होने के कारण वे, अब से तीन सौ वर्ष पहले भारत में आकर भी, न तो

भारतीय संस्कृति को अपना ही सके हैं और न उन्होंने यहाँ बसने का कभी स्वप्न ही देखा है।

राजनैतिक स्पर्धा में भारतीयता से अपना विच्छेद करके जिस सेमिटिक पृथकता को मुसलमानों ने अपनाया रक्खा वह, वास्तव में, कृत्रिम है। हिन्दू-मुसलमानों का विभेद शहरों में ही विशेष दिखाई देता है। परन्तु हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों की भी अधिकांश जनसंख्या देहातों में ही रहती है। आप देहातों में जाकर देखिए। उनकी भाषा, रहन-सहन, सारी संस्कृति भारतीय ही है। दोनों में कोई भेद नहीं है—आप ग्रामीणों को देख कर या उनसे बातचीत करके यह पहचान भी न सकेंगे कि उनमें कौन-सा मुसलमान है और कौन-सा हिन्दू। परन्तु, फिर भी, यदि उर्दू के पक्ष में जो कुछ कहा जाता है उस सबको मान भी लिया जाए तो भी खुला प्रश्न यह रहता है कि—क्या भारत में भारतीय संस्कृति और तदुचित भाषा उसकी राष्ट्रीयता का साधन बनेगी, अथवा सेमिटिक संस्कृति, जो वर्तमान मुसलमानों के पूर्वजों के लिए भी पूर्णतः स्वदेशी नहीं थी?

आर्य और सेमिटिक संस्कृतियों का विरोध भारत में साम्प्रदायिकता का रूप धारण करके इस प्रकार बढ़ा, या

बढ़ाया गया, कि पिछले दिनों कुछ महानुभावों को उर्दू और हिन्दी के समझौते की, इन दोनों के बीच का कोई मध्यम मार्ग ढूँढने की, आवश्यकता हो पड़ी। तब 'हिन्दुस्तानी' का नाम सुनाई दिया जिसमें 'हिन्दी' शब्द के व्यापकत्व की लाज निभाने का भी बहाना था। पर, 'हिन्दुस्तानी' शब्द की कल्पना ही उसकी सबसे पोच दलील है। 'हिन्दी' और 'हिन्दुस्तानी' शब्दों के अर्थ में क्या भेद है? क्या दोनों की व्याप्ति भी एक सी ही नहीं है? ऐसी सूरत में हिन्दी को अपदस्थ करना, उसे उसकी व्याप्ति से विलग करना, साम्प्रदायिकता को ही एक दूसरा रूप देना नहीं है क्या? हिन्दी को हिन्दुओं की ही भाषा मान कर केवल उनका विरोध करने के लिए और, इस प्रकार, साम्प्रदायिकता को एक भिन्न रूप में सन्तुष्ट करने के लिए ही ऐसा किया जाना सम्भव मालूम होता है।

यह हिन्दुस्तानी भाषा चीज़ क्या होगी? कहा जाता है कि यह न हिन्दी होगी, न उर्दू। हिन्दी और उर्दू तो हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषाएँ बना दी गई हैं न? हिन्दुस्तानी दोनों से ही भिन्न एक ऐसी वस्तु होगी जो जनसाधारण की भाषा कहलाएगी। और उस जनसाधारण की भाषा को बनानेवाले होंगे जनसाधारण नहीं, बल्कि

हम और आप, हिन्दी और उर्दू के हामी और उर्दू और हिन्दी के विरोधी, विशेषतः हिन्दी के विरोधी। तो फिर यह एक नई ही भाषा होगी।

सिद्धान्तरूप से एक कृत्रिम भाषा तैयार करने का आयोजन एक बड़ी ही विरूप और अकांड कल्पना है। लाखों वर्ष के मानव जाति के इतिहास में आज तक कोई भाषा बनाई जाती हुई नहीं देखी गई। भाषाओं का सदा विकास ही होता है, वे स्वयं ही बनती हैं। फिर व्यावहारिक भाषा का बनाना तो और भी उपहास्य बात है क्योंकि व्यावहारिक भाषा तो सदा बनी हुई ही रहती है—वह भविष्यत् की वस्तु ही नहीं है। और जो व्यावहारिक भाषा होती है समाज में उसका कोई नाम भी रहता ही है। हमारी वर्तमान व्यावहारिक भाषा का भी नाम है उर्दू या, अधिक व्यापक और राष्ट्रीय अर्थ में, हिन्दी।

निष्पक्ष भाव से विचार करने पर समझदार व्यक्तियों को यही पता लगेगा कि 'हिन्दी' नाम साम्प्रदायिकता को दूर कर राष्ट्रीयता को पुष्ट करनेवाला है। हिन्दी भाषा हिन्दुओं-मुसलमानों और अधिकांश प्रान्तों तथा राज्यों की व्यावहारिक भाषा है। वह अपेक्षाकृतरूप में सरल भी है। हिन्दी में अपनाने की जितनी शक्ति है उतनी और किसी

भाषा में नहीं—संस्कृत से लेकर अँग्रेज़ी, फारसी, अरबी, बँगला, मराठी और गुजराती के कितने ही शब्दों और प्रयोगों को इसने अपना अंग बना लिया है। इन सब बातों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि और अधिक क्षेत्रप्राप्त होने पर उन क्षेत्रों के उपयुक्त भी यह अपने को न बना लेगी। हमारे देश और संसार की सब से बड़ी विभूति महात्मा गान्धी भी स्वयं गुजराती होते हुए और बहुत अच्छी हिन्दी न जानते हुए भी, हिन्दी के समर्थक बने हैं तो कोई यह कहने का साहस न करेगा कि उन्हे अपनी मातृभाषा से द्वेष है। इस निर्लेप महात्मा ने भी हिन्दी की सार्वभौम उपयोगिता को पहचाना है।

हिन्दी का विकेन्द्रीकरण

'हिन्दी' उस भाषा-परिवार का नाम है जिसमें मुख्यत: अवधी, ब्रजभाषा, बुन्देलखण्डी, खड़ी बोली तथा उस मारवाड़ी बोली की, जिसे आजकल के दो-एक मारवाड़ी सज्जन 'राजस्थानी भाषा' का व्यापक नाम देने की इच्छा रखते हैं, गणना होती है। भाषा-परिवार के इन अलग-अलग अङ्गों का अपना अलग-अलग महत्व उसी ढँग का है जैसा कि एक मनुष्य-परिवार में माता-पिता, पुत्र-पुत्री भाई-बहन, दादी, परदादी अथवा किसी आश्रिता मौसी आदि के व्यक्तित्व का होता है। इसी भाँति, समझिए, शरीर भी भिन्न-भिन्न महत्ववाली इन्द्रियों का एक परिवार है। अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार परिवार के अथवा शरीर के कौन-कौन अङ्ग पारिवारिक रक्षा और अभ्युदय के सम्मलित उद्देश्य के कितने सन्निकट हैं—इस बात से उन अङ्गों के अलग-अलग महत्व का निर्धारण होता है। परिवार-रक्षा और परिवार का अभ्युदय ही वह केन्द्रतत्व है जिस पर अवस्थित होकर भिन्न-भिन्न अङ्गों की पृथकता एकसूत्रता के रूप में विकसित होती है। जिस

के ऊपर परिवार-रक्षा का सबसे अधिक उत्तरदायित्व और दारो-मदार रहता है, जिसके बिना परिवार की रक्षा असम्भव या असम्भवप्राय होती है, वह परिवार का प्रधान कहलाता है। इन्द्रियों और अङ्गों के परिवार-रूप शरीर में शायद हृदय, मस्तिष्क और पेट, सापेक्ष न्यौनाधिक्य के साथ, प्रधान और उप-प्रधान पदों के समीप पहुँचते हैं। शरीर-रक्षा के उद्देश्य में उनके सहायक होकर दूसरे अङ्ग परिवार के साथ ही लगे रहते हैं। अङ्ग-ग्राम से पृथक् केवल अपनी ही रक्षा के हेतु से वे शरीर से अलग नहीं हो जाते।

सामूहिक, पारिवारिक, रक्षा का यह सिद्धान्त अपनी यथार्थता में यहाँ तक आगे जाता है कि समय के विपाक से जो अङ्ग इस सिद्धान्त से अपना सहयोग हटा लेते हैं, परिवार उनको अपने से अलग कर देता है। शरीर के बेकार बाल, नाखून, मलमूत्र आदि ही नहीं, हाथ पैर तक कटवा कर फेंक दिए जाते हैं। पुराने दादा या परदादा पिछले जमाने में तो समाज-व्यवस्था के ही द्वारा वाणप्रस्थ करा दिए जाते थे; आजकल उनके लिए कोई कोठरी कमरा या एकान्त का कोई अन्य स्थान प्रायः स्वभावतः ही निर्दिष्ट हो जाता है। तथापि उन्होंने अपने अवसर पर

परिवार-रक्षा के सिद्धान्त को चालू रक्खा था, इसलिए हम उनका आदर करते हैं। परन्तु जो अङ्ग इस सिद्धान्त से विद्रोह कर अलग होना चाहता है उससे परिवार में विप्लव हो जाता है और उसकी प्रतिक्रिया आवश्यक हो जाती है। दूर की मौसी जब अपने दामाद के घर को परिवार के पैसे से भरना चाहती है तो, परिस्थिति के अनुसार या तो आप उसे निकाल ही देते हैं, जैसे कि सड़े हुए हाथ पैर को, या उसकी प्रवृत्ति को रोकने के लिए उस पर पहरा लगाते हैं, जैसे कि विसूचिका या संग्रहणी में मलादिक को रोकने के लिए किया जाता है।

भाषाओं के परिवार मे भी यही सिद्धान्त हू--ब--हू लागू होता है। भाषाओं के भी परिवार होते हैं, इसे सिद्ध करने की कोई आवश्यताविशेष नहीं मालूम होती। संसार के भाषाशास्त्री इसको सिद्ध कर चुके हैं। कोई भाषा एकांगी नहीं होती, वह किसी--न--किसी परिवार के एक प्रधान, उपप्रधान या गौण अंग के रूप में ही पनपती है। परिवारान्तर्गत उप-परिवारों की कल्पना सहज है- हिन्दुओं में तो वैसे भी संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली परम्परागत है और अँग्रेजी कानून भी उसे स्वीकार करता है—परन्तु किसी एकांगी भाषा की कल्पना असम्भाव्य है, उपहास्य है।

समाजरूप परिवार की सम्पूर्ण संस्कृति की एकसूत्रता को सुरक्षित रखने की पूरी सामर्थ्य जिस भाषा में होती है वही उस समाज की सांस्कृतिक भाषा, प्रधान भाषा, होती है तथा समाज के क्षुद्र अंगों के निजी व्यवहार बोलियों या उपभाषाओं द्वारा संचालित होते हैं जो सामाजिक सांस्कृतिक भाषा की, उसके अंगरूप में, पारिवारिक समृद्धि-वृद्धि करती रहती हैं। हम देखते हैं कि, दूर की मौसी या सिर के बाल के समान, छोटी-छोटी जानपदीय बोलियाँ अपने सहयोगी भाव में शृंगार बन कर अमुकस्थानीय औपन्यासिक या नाटकीय पात्रों के वार्तालाप के रूप में साहित्य में स्थान पाती हैं, परन्तु जो इस सहयोग-भाव से विरत रहती हैं वे जल्दी ही पथभ्रष्ट होकर विनष्ट होजाती हैं। यह सही है कि कभी-कभी दूर की मौसी भी पारिवारिक भावना में अति घनिष्ठ हो जाने पर, दूर की न रह कर निकटतर सम्बन्धी का गौरव प्राप्त कर सकती है, परन्तु यह कैसे हो सकता है कि वह किसी भी अवस्था में प्रधान की पदवी को आत्मसात् करले या उसकी बराबरी की होड़ करने लगे।

हिन्दी की परिवारसिद्धि में कोई सन्देह करने की बात तो नहीं मालूम होती। क्या कोई यह कह सकेगा कि हिन्दी

एक एकांगी या अंगहीन भाषा है ? तब प्रश्न यह उठेगा कि उसके अंग कौन-कौन-से हैं। क्या अवधी, ब्रजभाषा आदि ही हिन्दी के अंग नहीं हैं ? इस प्रश्न की सम्भावना तभी होती है जब कि कहीं—कहीं एकाध सज्जन ब्रजभाषा आदि को हिन्दी से अलग स्वतंत्र भाषाओं के रूप में सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु यदि पारिवारिक रक्षा और अभ्युदय की एकसूत्रता के ही ढँग का कोई सहयोगसूत्र इन बोलियों या भाषाओं में भी विद्यमान है और ये उस संयोगतत्व के विकास में ही अपने को यथाशक्ति विलसित करती हुई अपनी-अपनी पृथक्ता को गौण करके उसे उस संयोगतत्व के ही अधीन बना देती हैं तो उनके एक परिवार की प्रतिष्ठा हो जाती है। हमको देखना है कि इन विभिन्न भाषाओं में, जिन्हें हम हिन्दी-परिवार का अंग मानते हैं, कोई ऐसा संयोगसूत्र है या नहीं। परन्तु उनके संस्कारों से पहले उनके जन्म और जाति की समीक्षा कर लेना उचित होगा, क्योंकि पारिवारिक रक्षा का सम्बन्ध पारिवारिक संस्कृति की रक्षा से रहता है और संस्कृतियाँ परम्पराओं के रूप में विकसित हुआ करती हैं। अतः पहले हम यह देखेंगे कि इन भाषाओं का प्रादुर्भाव कैसे हुआ, कौन इनके पूर्वज थे।

कहा जाता है कि भारतीय इतिहास के उत्तर-मध्य-काल में मागधी, अर्ध-मागधी, शौरसेनी प्रभृति कुछ प्राकृत भाषाएँ प्रचलित थीं। पूरब की भाषाओं का सम्बन्ध मागधी और अर्धमागधी से बतलाया जाता है तथा पच्छिम की भाषाओं का शौरसेनी से। प्राकृतों और आधुनिक भाषाओं की शृंखला में अपभ्रंशों का मध्यवर्ती समय है जो आधुनिक भाषाओं के निर्माण की दृष्टि से संक्रमण का समय है। इस प्रकार अवधी अर्धमागधी की पुत्री हो जाती है तथा व्रजभाषा, खड़ी बोली और मारवाड़ी का सम्बन्ध शौरसेनी से बन जाता है। अर्धमागधी और शौरसेनी दोनों, संस्कृत के नाते से, सगी बहनें हैं। इस भाँति एक ही मातामही की सन्तति होने से ये सब भाषाएँ एक दूसरी से सम्बद्ध हो जाती हैं।

संस्कृत के नाते से अर्धमागधी और शौरसेनी की दो बहनें मागधी और महाराष्ट्री भी थीं। प्राकृत की अवधि बीतने के बाद मागधी और महाराष्ट्री तो अपने प्रादेशिक विभागों में अलग होकर स्वतंत्र रूप से अपना विकास करने लगीं और समय के साथ—साथ आधुनिक बँगला और मराठी के रूपों में परिणत हो गईं। परन्तु अर्धमागधी और शौरसेनी के कार्यक्षेत्र में हम उनके बाद सीधे—सीधे ही अवधी, व्रजभाषा आदि के नाम नहीं सुनते। यहाँ

ज़रा-सा अपभ्रंश का व्यवधान देखने में आता है। तथापि हम यह नहीं देखते कि अवधी ब्रजभाषा आदि अपने-अपने पूर्वगामी किन्ही विशेष-नामधारी अपभ्रंशों से निकली थीं। और न यही हम देखते हैं कि अलग-अलग प्राकृतों ने अपने-अपने कोई विशिष्ट अपभ्रंश छोड़े थे। 'अपभ्रंश' शायद लोकभाषा के ही किसी व्यापक रूप का नाम था और अर्धमागधी तथा शौरसेनी प्राकृतें, अपनी शक्ति से विरत हो जाने के बाद उसी लोकभाषा में निमग्न हो गई थीं।

अलग-अलग नामों से अलग-अलग देशों के अपभ्रंशों का अनिर्देश अपभ्रंश बोलियों की विशाल क्षेत्रीयता की सूचना देता है। उनकी इस व्यापकता से यह अनुमान किया जा सकता है कि अपभ्रंश प्राकृतों के ज़माने से, तथा उससे भी पहले से, चले आ रहे थे और वे प्राकृतों की सन्तति नहीं हैं। इसीलिए तत्तद्देशीय प्राकृतों की विच्छिन्न विशेषताओं को ही विकसित करनेवाले तत्तद्देशीय अपभ्रंश नहीं बन पाए। यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि यह व्यापक लोकभाषा अलग-अलग प्रादेशिक व्यवहारों में उन-उन देशों के परम्परा-प्राप्त प्राकृत-प्रयोगों के संसर्ग से थोड़ी-बहुत प्रभावित रही होगी। वैसे भी भाषावैज्ञा-

निक कहते ही हैं कि प्रत्येक दस वा बीस कोस पर लोक-व्यवहार की भाषा का रूप कुछ-न-कुछ बदल जाता है।

अतएव यह कहना कि अवधी, ब्रजभाषा, मारवाड़ी या राजस्थानी आदि अमुक-अमुक प्राकृतों से निकली हैं अनुचित मालूम होता है। वे अपभ्रंशों के ही कालाति-प्राप्त तत्तद्देशीय रूप हैं। और अपभ्रंश भी प्राकृतों की सन्तति न होकर प्राक्प्राकृत युग के संस्कृत-समाज की दैनिक व्यवहार-निष्ठ लोकभाषा का सर्वसामान्य रूप था। यह सम्भव है कि संस्कृत-युग में इस अपभ्रष्ट लोकभाषा का कुछ साहित्यिक रूप, जिसे हम संस्कृत नाटकों के निम्न पात्रों की बातचीत में देखते हैं, किसी समय 'पैशाची' नाम की प्राकृत से मेल खाता हो। इस दृष्टिकोण में संस्कृत से अपभ्रंश का सम्बन्ध उसके एक असंस्कृत पुत्र या भाई का सम्बन्ध हो जाता है। उसे संस्कृत का उत्तराधिकार प्राप्त था परन्तु उसकी अक्षमता में, मुसलिम-शासन के सुदूर प्रान्तपतियों (गवर्नरों) की भाँति, उसकी अपेक्षाकृत-संस्कृत बहनें अपने-अपने प्रान्तों का आधिपत्य आत्मसात् कर बैठीं। समय आने पर ये बहनें निःसन्तान रहती हुई ही राज्यच्युत हो गईं और अपभ्रंश को पुनः एक बार अपना साम्राज्य बटोरने का अवसर मिला।

साम्राज्य की दृष्टि से प्राकृतों के बाद अपभ्रंश की कुछ-कुछ वैसी ही स्थिति थी जैसी आजकल हिन्दी की है, परन्तु, परिस्थितियों के कारण, उसमें हिन्दी की चतुर्थांश भी सामर्थ्य न थी। अपनी चिर-असामर्थ्य के कारण वह इस अवसर से भी लाभ न उठा सका, वह अपने साम्राज्य को बाँध रखने में पुनः अक्षम रहा और अन्ततः उसे इस साम्राज्य को और भी छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित कर अपनी बहुत-सी सन्ततियों में बाँट देना पड़ा। अर्धमागधी प्रान्त को मैथिली और अवधी ने बाँट लिया तथा शौरसेनी-प्रान्त ब्रजभाषा, खड़ी बोली, मारवाड़ी या 'राजस्थानी,' बुन्देली आदि के अधिकार में छिन्न-भिन्न हो गया।

इस दृष्टि से हिन्दी-परिवार अपभ्रंश-परिवार ही है जिसका सीधा सम्बन्ध संस्कृत से है। इस परिवार में खड़ी बोली का स्थान, इतिहासज्ञों के तिथि-निर्णय के अनुसार अग्रजा का स्थान है। अपभ्रंश—परिवार में 'हिन्दी' किसी अलग भाषा का नाम नहीं है। अतः 'अपभ्रंश' नाम का लोप होने के बाद हिन्दी को उसका स्थानापन्न ही समझना उचित है। मुसलमानों ने लोकभाषा को अपनी सहूलियत के लिए हिन्दी नाम दिया था, जो अपभ्रंशों की लोकव्याप्ति का परिचायक होता हुआ 'अप-

भ्रंश' शब्द की अपेक्षा अधिक गौरवपूर्ण तथा अपने अभिप्राय में अधिक शुद्ध था। चूँकि आज हिन्दी का प्रतिनिधित्व परिवार की अग्रजा खड़ी बोली कर रही है केवल इसलिए कभी-कभी 'हिन्दी' कहने में खड़ी बोली का अर्थ भी लेलिया जाता है।

यह तो वंशावली के आधार पर हिन्दी-परिवार की सिद्धि हुई। अब इससे इस परिवार की सांस्कृतिक एक-निष्ठता का इतना तो निश्चय किया ही जा सकता है कि उसमें संस्कृत-समाज के आर्यों की जीवन-विधि के कुछ-न-कुछ लक्षणों का कोई सामान्य अवशेष होगा। खड़ी, व्रज, 'राजस्थानी' या बुन्देली बोलियों के बोलने-वाले कोई भी सज्जन अपने को शायद अनार्य कहलाना पसन्द न करेंगे। परन्तु अनार्य तो अपने को जर्मन या बंगाली, महाराष्ट्री या गुजराती सज्जन भी न मानेंगे। तथापि उनकी भाषाएँ भिन्न हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि हम अपने आपको पारस्परिक समानताओं से न पह-चान कर पारस्परिक भेदों द्वारा ही अधिक पहचानना चाहते हैं। यह प्रवृत्ति निःसन्देह बड़ी खेदजनक है, तथापि वह होती है। प्रायः तो यह प्रवृत्ति मजबूरी की परिस्थितियों का परिणाम होती है जिसके लिए किसी को दोष भी नहीं

दिया जा सकता। मजबूरी में यदि जर्मन या बंगाली अपने शेष परिवार से इतने अधिक अलग हो गए कि उनका उसके साथ कोई सम्पर्क ही न रह सका तो उनमें भेदवृत्ति के संस्कार का, असम्पर्क के अनुपात से कम या अधिक विकसित होता जाना स्वाभाविक ही था। कहते हैं कि यदि मनुष्य के बच्चे को पैदा होने के कुछ समय बाद ही किसी पशु की माँद में पलते रहने की मजबूरी हो जाए तो धीरे-धीरे उसमें पशु-समाज की वृत्तियों का ही विकास होने लगता है। इसी प्रकार बलात् धर्मपरिवर्तन की मजबूरी में कुछ पीढ़ियों के बाद मनुष्य की संस्कृति का रूप धीरे-धीरे बिलकुल बदल जाता है। जर्मन या बंगाली शायद इस बात को बता सकेंगे कि किस रूप में उनके भेद-संस्कार समान संस्कृति-तत्वों की अपेक्षा इतने अधिक बढ़ गए कि अन्ततः उनको आर्यता की अपेक्षा जर्मनत्व या बंगालीपन ही उनकी मनुष्यता का प्रमुख लक्षण बन गया। परन्तु जहाँ से व्यक्ति धर्म--परिवर्तन या संस्कृति-विच्छेद कर लेता है वहाँ उस व्यक्ति के सांस्कृतिक चरित्र के घोर विकार की ही सूचना मिलती है। भारत में अपना धर्म-परिवर्तन करनेवालों की मनोवृत्ति में प्रायः स्त्रैण या स्वार्थपूर्ण आर्थिक विकार या फिर घरवालों से झगड़ आने

की ही कहानी रहती है, इसे हम जानते हैं।

संस्कृति के अर्थ में सामाजिकता निहित है। अकेले व्यक्ति से संस्कृति का निर्माण नहीं होता, यद्यपि अकेला व्यक्ति संस्कृति की प्रेरणा अवश्य रख सकता है। परन्तु उसकी प्रेरणा का प्रतिफलन समाज में ही होगा। समाज का अभिप्राय पारस्परिक सहानुभूति के संगठन का है। पारस्परिक सहानुभूति में समाजान्तर्गत व्यक्तियों की समान आवश्यकताओं की पूर्ति और समान संकटों से बचने की सामूहिक, संगठित, वृत्ति का अर्थ निकलता है। यही वृत्ति राष्ट्रीयता की वृत्ति है जिसमें, फिर, समान अभ्युदय की कामना आदर्श बन जाती है। विशाल आर्यता में आवश्यकताओं, समस्याओं और संकटों की परिस्थितियाँ जब तक समान रहीं तब तक, परिवार के एकनिष्ठ भिन्न भिन्न व्यक्तियों की भाँति अलग-अलग स्वतंत्र राज्यों के होते हुए भी, आर्य जाति में पारस्परिकता के (राष्ट्रीयता के) संगठन-तत्वों की प्रतिष्ठा रही। परन्तु विदेशी आक्रमणों के होने लगने पर आक्रान्त और सुदूर अनाक्रांत देशभागों की परिस्थितियों में असमानता पैदा हो जाने से अनाक्रान्त प्रदेश धीरे-धीरे अलग हो गए। वस्तुतः सिन्ध, पंजाब और दिल्ली-कन्नौज के संकटों में

बंग या महाराष्ट्र का क्रियात्मक सहयोग असम्भव-सा था। परन्तु राजपूताना के पश्चिमी भाग से लेकर अर्ध-मागध देश तक उथल-पुथल की समान परिस्थितियों का एक लम्बा युग चला है। इसी का परिणाम यह हुआ कि मध्य-कालीन भारत के लम्बे इतिहास में हमें इस लम्बे भूभाग के कोई स्थायी प्रादेशिक विभाग नहीं दिखाई देते हैं—मानों पश्चिम राजपूताने से पश्चिम बिहार तक एक ही प्रान्त रहा हो। अँग्रेज़ों के ज़माने में बनाए गए यू० पी०, राजपूताना तथा सेन्ट्रल-इंडिया-एजेंसी विभाग इस बात के परिचायक हैं। निरन्तर उथल-पुथल के कारण इस बड़े भू-भाग की कोई सामाजिक एकरूपता तो न बन सकी, जिससे दैनिक रहन-सहन के छोटे-मोटे स्थानीय-अन्तर पैदा होजाना भी स्वाभाविक था-यद्यपि रहन-सहन के भेद तो सामाजिक एकदेशीयता में भी रहते ही हैं—परन्तु उसकी दलित संस्कृति अथवा विकृति में पारिवारिक सहा-नुभूति के उद्देश्य की समानता थी। प्राकृत-विभागों के अपभ्रंशरूप लोकभाषा में निमग्न हो जाने का यह भी एक बड़ा भारी कारण है। व्यापक लोकसंकट ने प्राकृतों की दुर्बल सामाजिकता को छिन्न-भिन्न कर व्यापक लोक-भाषा को अपनी चेतना से समन्वित कर दिया। उस

समय के अपभ्रंश-साहित्य में उद्देश्य की एकसूत्रता पाई जाती है। विसयों के उस युग में वीरता का ज़माना था अवधी, व्रज, राजस्थानी आदि का विभाजन होने से पहले वीरगाथात्मक काव्य की रचना करनेवालों ने लोकभाषा का ही आश्रय लिया था। इसी भाषा को अब कुछ लोग ज़बरदस्ती 'राजस्थानी' कहने लगे हैं। अन्यथा इस भाषा में लिखनेवाले-(मेरा अभिप्राय वीरगाथात्मक रचना, यथा विविध 'रासो' आदि, करनेवालों से ही है)—किन विशिष्ट राजस्थानी प्रदेशों के थे तथा उनकी रचनाओं के नायक, उदाहरणस्वरूप पृथ्वीराज, किन विशिष्ट राजस्थानी संस्कृति-केन्द्रों के अधिष्ठाता थे ?

इस सब की इतनी चर्चा से इस बात का पता चलता है कि विशाल अपभ्रंश-प्रदेश और और अपभ्रंश-भाषा की संस्कृति, जैसी-कुछ भी वह थी, एक ही थी। इस संस्कृति में राष्ट्रीयता का अंश था; राजनीतिक आर्य संगठन की आत्मा उसमें थी। यही भाषा मँजती-मँजती जब आध्यात्मिक संगठन की वांछा को लेकर साधु-संतों के हाथों में जाती है तो जैसे वह लोकचेतना को अधिक विस्तृत करती है। साधु-संतों के हाथों में भी उसके विच्छेदात्मक प्रादेशिक विभाग नहीं दिखाई देते। तीन

सुदूर कोनों से आते हुए तीन साधुओं—दादू, नानक और कबीर—की वाणियों को किन अलग-अलग प्रादेशिक संस्कृतियों और भाषाओं के नाम लेकर अलग-अलग पहचाना जाता है ?

समाज में स्थिरता आ जाने के बाद भी, जब शिष्ट सांस्कृतिक व्यवहार का रूप निखरता है तो, उस व्यवहार का उत्तरदायित्व केवल एक ही भाषा, ब्रजभाषा, पर पड़ता है। अवध, बुन्देलखंड तथा राजस्थान की बोलियाँ अपने-अपने उप-प्रदेशों में किसी स्वतंत्र सामाजिकता का निर्माण नहीं करतीं। बल्कि इन उपप्रदेशों में भी ब्रजभाषा ही अपना प्रसार कर जाती है, यहाँ तक कि तुलसीदास जैसे महाव्यक्तित्व भी, जिन्होंने आर्यता की राष्ट्रीय तथा अध्यात्मिक संस्कृति का एक सर्वश्रेष्ठ साहित्य मानवता को दिया है, अवधी को सामाजिक भाषा न बना सके। उधर ब्रजभाषा के प्रसार से पहले का डिंगल साहित्य अधिकांश में मौखिक परम्परा का ही भूषण रहा है। क्या इससे इस बात की सूचना नहीं मिलती है कि अपभ्रंशों की ये अलग-अलग धाराएँ, स्वतंत्र संस्कृतियों की भारवाहिनी न बन सकने के कारण, वास्तविक अर्थ में स्वतंत्र धाराएँ भी न बन सकीं और, इसलिए अन्ततः वे

आर्यवर्तीय सामाजिकता में ही, वह चाहे कैसी भी रही हो, निमग्न हो गईं। क्या इससे ब्रजभाषा की तत्कालीन सामाजिक सांस्कृतिकता की एकसूत्रता का पता नहीं चलता? क्या अवधी आदि की ब्रज-निमग्नता में यह सूचना नहीं है कि इन विविध बोलियों ने एक पारिवारिक संगठन की वृत्ति से अपने-आपको अपने परिवार के अधिक प्रमुख और समर्थ भाषा-व्यक्ति के अधीन बना दिया था?

अपभ्रंश की एकनिष्ठता तथा इन विविध बोलियों की सूचनाओं के आधार पर, तब, अपभ्रंश-परिवार अथवा हिन्दी-परिवार की सिद्धि में कोई सन्देह तो न रहना चाहिए। और ब्रजभाषा का समय बीतने पर परिस्थितिवश उसका उत्तरदायित्व यदि खड़ी बोली के कन्धों पर आ पड़ता है तो पारिवारिक परिस्थिति क्या कुछ विशेष बदल जाती है? यदि कुछ बदलती भी होगी तो वह तो खड़ी-बोली-हिन्दी के पक्ष में ही बदलेगी, क्योंकि ब्रजभाषा की सामाजिकता की प्रतिष्ठा के बाद से बुन्देली, मारवाड़ी आदि तो ऐसी निश्चिन्त होने लगी थीं कि खड़ी बोली पर जब सामाजिकता का भार पड़ा तो उनकी आत्म-चेतना में कोई भी आन्दोलन न हुआ। उधर, खड़ी बोली की भी

पारिवारिक चिन्ता पर दृष्टि डालिए। जो मारवाड़ी, बुन्देली आदि अपनी सुदीर्घ निश्चिन्तता में गाढ़-प्रसुप्त और, फलतः लोकविस्मृत, हो चली थीं उन्हे खड़ी बोली ने ही फिर स्मृति के गौरव में ला उठाया है और इस प्रकार उन्हे एक नई संजीवनी दी है।

खड़ी-बोली-प्रदत्त इस संजीवन की सबसे पहली प्रतिक्रिया यदि इन बोलियों की ईर्ष्या के रूप में ही देखने को मिले तो इस पर किस सांस्कृतिक—अतः स्वभावतः राष्ट्रीय भी—व्यक्ति को खेद न होगा? यानी दूर की मौसी की—क्या करें, उसकी चिर-प्रसुप्ति के उपलक्ष्य में यही कहना पड़ेगा—जब परिवार के शीर्षव्यक्ति द्वारा खातिर होने लगी तो उसने अपना अलग घर बसा लेने की ठान ली! अन्यथा तो, यदि ये बोलियाँ समझें तो, उनका स्थान हिन्दी-परिवार में खड़ी बोली की सहयोगिनी अनुजाओं का ही है, जिसमें वे अपनी और परिवार की साथ-साथ समृद्धि कर सकती हैं। परन्तु अपने ईर्ष्या-भाव में वे, देखने में आता है, अपने को खड़ी बोली से नहीं, हिन्दी-परिवार से ही अलग करना चाहती हैं।

परिवारों के छिन्न-भिन्न होने का परिणाम क्या होता है? महाभारत का उदाहरण, पृथ्वीराज और जयचन्द का

उदाहरण, हम अभी भूले नहीं हैं। अवधी और बुन्देली और राजस्थानी और व्रजभाषा के अलग होजाने से'हिन्दी' नाम की कोई चीज़ तो रह न जाएगी। खड़ी बोली अपनी बहनों से अलग होकर, केवल खड़ी बोली ही रह जाएगी वह समस्त हिन्दी-संस्कृति, राष्ट्रीय सामाजिकता की किसी पारिवारिक गौरवशालिता की अधिकारिणी किधर से रह सकेगी ? साहित्य-संस्कृति—वही हमारी जीवन-संस्कृति और राष्ट्रीय संस्कृति का भी रूप है—के नाते उसके भंडार का इतिहास पच्चीस, या बहुत कहो तो पचास, वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। हिन्दी-राष्ट्रीयता के विरोधियों को उसे एक नवोत्थित (upstart) भाषा कहने का मौक़ा मिल जाएगा, और इस मौके में राष्ट्रीयता-विसर्जन की कितनी सामर्थ्य होगी !

और फिर क्या ये अलग होनेवाली बोली-भाषाएँ भी अपनी अलहदगी में पनप सकेंगी ? परिवारप्रदत्त जितना-सा संजीवन उन्हें अभी तक प्राप्त हो सका है, क्या उतने से ही आधार पर स्वतंत्र खड़ी होने की सामर्थ्य उनमें है ? खड़ी हो भी लें तो कौन-सा ज्योतिषी उन्हें विश्वास दिला सकेगा कि पृथ्वीराज के बाद जयचन्द की सी हालत उनकी हो ही न सकेगी ? उनके लिए दो मैं

से एक ही कर्तव्य रह सकेगा—या तो वे अपनी (आर्य) संस्कृति की रक्षा की चेष्टा में हिन्दी-विरोधियों से संघर्ष करती हुई शीघ्र ही नष्ट हो जाएँ, या उन विरोधियों की अनुगामिनी बन कर संकरवर्णी हो जाएँ और अपनी संस्कृति को नष्ट हो जाने दें। ऐसा होने पर भारतीय राष्ट्रीयता का जो रूप बनेगा उसकी कल्पना करने के लिए हमें शायद १००-१५० वर्ष पीछे लौटाना पड़ेगा।

वास्तव में संगठन के इस युग में असंगठन की यह ध्वनि बड़ी विरूप-सी सुनाई देती है। क्या सचमुच अपनी पारिवारिक समृद्धि को हम इतना-सा भी सहन नहीं कर सकते ? फिर दूसरे तो क्यों ही करेंगे ? परन्तु ग़नीमत यह है कि इस विरूप ध्वनि को करनेवाले यहाँ-वहाँ के इने-गिने दो-चार सज्जन ही हैं जिनके पास इस तरह की ध्वनि करने के लिए कोई विशेष कारण होंगे। यह ध्वनि सामाजिक ध्वनि नहीं है। आशा है भविष्य में भी न हो सके, क्योंकि वह अवध, बुन्देलखंड, ब्रज और वर्तमान राजस्थान की सामाजिक चेतना से अभी बहिर्गत है। तथापि जो बात अंकुर रूप में, भले ही किन्हीं भी कारणों से, कुछ दिखाई-सी दे रही है उससे पारिवारिक भावना में विश्वास रखनेवाली आर्यता को

सावधान रहना पड़ेगा। विसूचिका के प्रथमविकार के दर्शन होते ही उसे रोक देने की आवश्यकता है।

जनपदवाद

आजकल के समय में जबकि जीवन के मूल स्रोतों से सम्बन्ध रखनेवाले महत्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रश्न भी साम्प्रदायिक उद्देश्यों से विवर्ण होकर हमारे सामने किसी भयंकर विश्लेषगुण को लेकर उपस्थित होते हैं तो समय के स्वर में स्वर मिला कर वर्तमान समय के जनपद-रव को एक 'वाद' की उपाधि से अभिहित करने में शायद कोई बड़ा अपराध नहीं समझा जाएगा। इसलिए कि हम देखते हैं कि 'जनपद' शब्द को पकड़ कर हिन्दी के अंगभंग के इच्छुक कतिपय सज्जनों ने इस अंगभंग के साधक एक वर्गलक्ष्य आन्दोलन का रूप पैदा करने की चेष्टा की है। हिन्दी के एकाध विद्वान् के यह सुझाने पर कि हिन्दी की कुछ वर्तमान प्रादेशिक बोलियाँ किसी बहुत पुरातन समय के जनपद-विभाग से टक्कर लेती हैं। हिन्दी-अंगभंग के सिद्धि-योगी महानुभाव इस बात पर जोर दे रहे हैं कि उस पुराने जनपद-विभाग के अनुसार ही आज-कल के तत्तत् स्थानों में बोली जानेवाली बोलियाँ स्वतंत्र समझी जानी चाहिएँ। पुराने जनपद-विभाग और वर्त-

मान बोली-विभाग को किसी विशेष उद्देश्य से एक में मिलाने की इस वर्गीय चेष्टा को ही 'जनपदवाद' का नाम दिया गया है।

इसमें सन्देह नहीं कि किसी ज़माने में अनेक जनपद थे और उनके कुछ विशिष्ट नाम भी थे। परन्तु, भारत में ही क्या, संसार के अन्य स्थानों में भी, जहाँ इन्सान की बस्तियाँ रही होंगी वहाँ जनपद रहे होंगे और शायद उनके कुछ विशेष नाम भी रहे ही होंगे। 'जनपद' शब्द का अर्थ क्या बस्ती से कुछ भिन्न है? क्या हम कह सकते हैं कि वर्तमान भारतवर्ष में, या संसार के अन्य बसे हुए देशों में जनपद नहीं हैं? हमने 'जनपद'-शब्द का प्रयोग भले ही त्याग दिया हो, परन्तु आजकल के प्रादेशिक प्रान्त और उप-प्रान्त जनपदों के अतिरिक्त और क्या हैं? 'प्रान्त' या 'उप-प्रान्त' अथवा जनपद कहने से देशव्याप्त संस्कृति की कुछ परस्पर-संलग्न, परस्पर-स्वतंत्र नहीं, इकाइयों का ही बोध होता है। इन इकाइयों के रूप राज-नैतिक तथा भौगोलिक प्राकृतिक कारणों से बदलते-बदलते रह सकते हैं, परन्तु जहाँ एक बार बस्ती बन जाती है वहाँ यदि भूकम्प-आदि-जैसे कोई अति विकट उपद्रव ही न हों तो, वह बस्ती क़ायम भी रहती ही है।

तब जनपदवादियों से यह पूछा जा सकता है कि यदि अब से पाँच-हज़ार वर्ष पहले एक स्थान में आदमी रहते थे और उस समय उस स्थान का नाम 'क' था और यदि आज भी उस स्थान में आदमी रहते हैं और अब उस स्थान का नाम 'क' नहीं है और उस स्थान के वर्तमान निवासी आपस में बातचीत भी करते हैं और जिस बोली में वे बातचीत करते हैं और उसका नाम, मान लीजिए, उन्होंने 'कटकया' रख छोड़ा है, तो इस सबसे क्या हुआ? इसी बात को ज़रा-सा और सरल बनाकर यों भी मान सकते हैं कि जिस स्थान में पहले कभी एक गहरा-सा तालाब था जिसमें मछलियाँ रहती थीं वह स्थान अब समतल होगया है और उस पर अब, एक कोने में अपनी झोंपड़ी बसा कर, आस-पास में आप खेती किया करते हैं। तो क्या केवल इसीलिए कि पहले आपके खेत के स्थान में मछलियों का तालाब था आप अपने-आप को अन्य खेती करनेवालों की बिरादरी से निकाल डालेंगे?

किसी पिछले जमाने में, और उससे भी पिछले जमाने में, आर्यावर्त में तथा आर्यावर्त के बाहर, आर्यों की ज्ञात-नाम और अज्ञातनाम कितनी बस्तियाँ थीं, क्या इसकी कोई गिनती की गई है या की जा सकती है? क्या

महाभारत-काल के और रामायण-काल के और वैदिक कालों के जनपद एक ही थे ? क्या इसका कोई विशेष कारण है कि विशेषतः महाभारत-काल के ही कुछ जनपद-नामों से आजकल के कुछ गिनाए गए बोली-नामों का गँठजोड़ किया जाए ? यदि इसका उद्देश्य महाभारत-युग से लेकर वर्तमान युग तक किसी सांस्कृतिक एकसूत्रता का सम्बन्ध-संकेत दिखाना है तो—इसके विषय में अपने सन्देहों की बात न कह कर भी हम इतना तो अवश्य ही पूछेंगे कि—यदि यह एकसूत्रता वैदिक आर्यता के समय से ही तलाश की जाती तो क्या कोई बुराई होती ? अथवा, क्या फिर महाभारत-युग के पहले आर्यों में कोई संस्कृति या एकसूत्रता थी ही नहीं ? हाँ, इतनी बात तो माननी ही पड़ेगी कि महाभारत की संस्कृति बहुत-कुछ फूट की संस्कृति थी और हमारी वर्तमान संस्कृति में भी फूट का बड़ा उदार अंश है। तब क्या इसी कारण से आजकल के जन-तथा-बोली-फोड़क आन्दोलन के लिए भारत के किसी फूट-युग का जनपद-विभाग सिद्धि-साधक-संयोग के रूप में हमारे सामने रक्खा जाता है ?

हमारी समझ में तो इस युक्ति में कि पहले जिन स्थानों में कुछ जनपद थे उनमें अब कोई बोलियाँ बोली

जाती हैं एक साम्पातिक संयोग (Coincidence) का भी महत्त्व नहीं है। जैसा हम कह चुके हैं, जिस स्थान पर मनुष्य रहेंगे उसका कोई न कोई नाम भी होगा ही, और जो लोग पाँच-हज़ार वर्ष बाद वहाँ रहेंगे वे आपस में कुछ-न-कुछ बोलेंगे ही। बोलते तो शायद वे लोग भी आपस में होंगे जो पाँच-हज़ार वर्ष पहले वहाँ रहते थे। इस सबमें कोई अद्भुतता या विलक्षणता नहीं मालूम होती। विलक्षणता तो इसमें मालूम होती है कि जनपद-वादी जहाँ यह देखते हैं कि आजकल के लोग 'यह' बोलते हैं और पाँच-हज़ार वर्ष पहले इन बोलनेवालों के भूखंड का नाम 'वह' था, वहाँ वे यह देखने की इच्छा भी नहीं करते कि वर्तमान बोलनेवालों के भूखंडों के पाँच-हज़ार वर्ष पुराने निवासी भी शायद आपस में बोलते होंगे। वस्तुतः देखना तो यही चाहिए—यदि देखना आव-श्यक ही हो तो—कि पारस्परिक आचार-व्यवहार की इकाइयों के रूप में पहले कभी जो जनपदीय भू-विभाग थे उनकी सामाजिक संस्कृतियाँ क्या थीं और कहाँ तक वे एक दूसरी से स्वतंत्र थीं; उस स्वतंत्रता के उपलक्ष्य में उनकी अपनी बोलियों—या, वर्तमान आन्दोलकों की युक्ति में, 'भाषाओं'—का क्या रूप था; आजकल भी उस जनपद-

विभाग के अनुरूप ही जानपदिक ढंग के कोई भूमिभाग हैं क्या; यदि कोई ऐसे भूमिभाग हैं, तो क्या उन भागों की स्वतंत्र संस्कृतियाँ उनके समान्तर प्राचीन जनपदों की किन्ही स्वतंत्र संस्कृतियों की परम्परा में ही चल रही हैं; और क्या इस परम्परा के उपलक्ष्य में कथितरूप भूविभागों की बोलियाँ प्राचीन जनपदों की स्वतंत्र बोलियों की भी किसी परम्परा को उपस्थित करती हैं। परन्तु यह सब देखने के लिए बड़े परिश्रम की जरूरत है—वर्षों, न मालूम कितने वर्षों, के परिश्रम की। फिर भी पता नहीं कि इच्छित तथ्य हाथ लगे या नहीं।

हमें विद्वानों ने बतलाया है कि "जयपुरी बोली जयपुर, कोटा और बूँदी के राज्यों में बोली जाती है। यह प्राचीन काल में मत्स्यदेश कहलाता था......मेवाती बोली का प्रदेश उत्तर मत्स्य का एक अंश है" तथा "ब्रज का मिश्रित रूप......अलवर, भरतपुर, जयपुर रियासत के पूर्व भाग, करौली और ग्वालियर के कुछ भाग में बोला जाता है।" यहाँ कई एक प्रश्न स्वाभाविकतया उठते हैं, यथा—जयपुर-कोटा-बूँदी और पुराने मत्स्यदेश की भौगोलिक तथा सांस्कृतिक सीमाएँ क्या समान हैं? जयपुर-कोटा-बूँदी कहने से अभिप्राय इन राज्यों की वर्तमान

सीमाओं से है अथवा किन्ही पिछली मुसलिम-कालीन सीमाओं से ? आदि। 'जनपद'-शब्द की व्याख्या में हम पढ़ते हैं कि " बड़ी नदियों के किनारे थोड़ी-थोड़ी दूर पर आर्य जन जंगलों को काट कर मुख्य नगर या पुर बसाते थे और उसके चारों ओर अपनी बस्तियाँ बना कर बस जाते थे। प्रत्येक ऐसा समुदाय जनपद कहलाता था और उसका केन्द्र उसका पुर या नगर होता था।" यह ठीक है। फिर हमें यह विश्वास दिलाया गया है कि "ये प्राचीन जनपद आजतक जीवित. ....रह सके तथा अपना स्वतंत्र अस्तित्व......स्थिर रख सके।" समाधान यह है कि " जनपदों के दीर्घ जीवन का मुख्य कारण इनके इन स्वतंत्र तथा पृथक् पुरों का होना प्रतीत होता है। इन विभागों के ये केन्द्र आज तक बने हैं यद्यपि ये विशेष स्थान आवश्यकतानुसार कई बार बदले गए हैं।" मत्स्य-देश का केन्द्र-पुर विराट नगर था जिसके चिन्ह जयपुर राज्य में अब भी विद्यमान बतलाए जाते हैं। विराट नगर का केन्द्रत्व भी अब बदलकर आवश्यकता-नुसार किसी दूसरे स्थान में आगया होगा, जिस से पुराने मत्स्यदेश का प्रतिनिधित्व करनेवाले किसी वर्तमान जानपदिक ऐक्य की सिद्धि होगी। आजकल के जयपुर-

कोटा-बूँदी भू-खंड की जनपदत्व-सिद्धि के लिए इस भू-खंड के किस नगर को हम विराट का प्रतिनिधित्व प्रदान करेंगे। इस भूखंड की स्वतंत्र सिद्धि में यह अवश्य देखना होगा कि वह उन दूसरे भूखंडों से, जो दूसरे-दूसरे प्राचीन जनपदों (कुरु, मरु, शूरसेन) के रूप बतलाए जाते हैं, अपनी कुछ विलक्षण विशेषताएँ रखता है। आजकल इस भूखंड में अनेक नगर दिखाई देते हैं जिनमें से कई-एक स्वतंत्र राजधानियाँ भी हैं। यदि यह मान लिया जाए कि पुराना जनपद इन राजधानियों के कारण अलग-अलग टुकड़ों में बँट गया है तब तो जनपदों की आधुनिक विद्यमानता सिद्धान्त नहीं रहती। इसके विपरीत यदि माना जाए कि इन नगरों अथवा राजधानियों में भी कोई एक प्रमुख नगर शेष नगरों और राजधानियों का संस्कृति-संचालन कर रहा है तो उस नगर का प्रमाण-सहित नाम लेना होगा। साथ ही यह भी देखना होगा कि उसका संचालन-कर्म पुरानी मत्स्य सीमा तक ही होता है या उस के आगे भी कहीं तक होता है। यदि हम यह न कर पाएँ तो हमारे सिद्धान्त का रूप क्या इससे कुछ अधिक रह जाएगा कि जहाँ पहले मत्स्यदेश था वहाँ आजकल कुछ मनुष्य रहते हैं।

ऊपर जो कई उद्धरण दिए गए हैं उनमें से एक के आधार पर जयपुरी बोली से ही मत्स्यदेश की वर्तमान प्रतिनिधि-सीमाओं का माध्य दिलाने की चेष्टा की जा सकती है। परन्तु उत्तर मत्स्य मेवाती बोली का प्रदेश है। और, पूर्वी जयपुर में व्रजभाषा का मिश्रित रूप बोला जाता है। तो जयपुरी बोली का शुद्ध रूप क्या है? और जयपुरी बोली की शुद्ध सीमाएँ भी क्या हैं? शुद्ध जयपुरी क्या विशेषतः जयपुर रियासत के बाहर कोटी-बूँदी-रूपी मत्स्यांश में ही बोली जाती है? तब इस बोली को जयपुरी के स्थान में 'कोटी' या ऐसा ही कोई अन्य नाम क्यों न दिया गया? अवश्य ही जयपुरी मत्स्य-युग का नाम नहीं है।

जयपुरी बोली का उदय कब और कैसे हुआ? जयपुर राज्य का उदय कब हुआ? क्या जयपुरी बोली का जयपुर रियासत के उदय और विकास से भी कोई सम्बंध है, अथवा यह जयपुरस्थान के आदि निवासियों की ही किसी पुरानी चली आती हुई बोली का ही वर्तमान रूप है? ऐसा सुना जाता है कि जयपुर में पहले जंगली मीणा जाति के लोग रहते थे। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों के लगभग मुसलमानी हमलों के दबाव से कान्यकुब्ज और

इसके पश्चिमी देशों के क्षत्रिय वर्तमान राजपूताने की ओर चले आए थे और उन्होंने इस स्थान की जंगली जातियों को सहज में अपनी वशवर्तिनी बना कर अपने छोटे-छोटे राज्य बसा लिए थे। इन्हीं में से कोई लोग अम्बर या आमेर में आकर बस गए थे। अम्बर या आमेर ही बाद की राजनीतिक परिस्थितियों में उन्नति करता-करता जयपुर होगया। यह सिद्ध करना बड़ा कठिन होगा कि आमेर बसानेवाले राजपूत कोई भाषा न बोलते थे और यहाँ आकर उन्होंने मीणों की भाषा सीख ली तथा जो भाषा उन्होंने सीखी वह प्राचीन मत्स्य के तत्कालीन समस्त भूखंड की भाषा थी। आमेर में आनेवाले ये कान्यकुब्ज क्षत्रिय अपने साथ कान्यकुब्जदेश की संस्कृति और भाषा भी लाए होंगे और, संस्कृत तथा विजेता होने के कारण, उन्होंने ही, यदि आवश्यकता रही होगी तो, अपनी भाषा का आरोप यहाँ के लोगों पर किया होगा।

राजपूतों का आदिम आमेर बताए गए वर्तमान मत्स्य-प्रतिनिधि भूखंड का एक अति-अति क्षुद्र अंश था। यह शायद कहा जाए कि प्रारम्भिक आमेरी राजपूतों की संस्कृति और भाषा ही बाद में, जयपुर राज्य का प्रसार होने पर, मत्स्य की वर्तमान प्रतिनिधि-भूमि की संस्कृति

और भाषा बन गई। यदि यह बात मान भी ली जाए तो इससे इतनी तो सूचना मिलती ही है कि राजपूतों से पहले इस भूखंड में कोई मत्स्य-परम्परा नहीं थी। साथ ही इसमें घटना-चमत्कार का यह आश्चर्य प्राप्त होता है कि आमेरी राजपूतों का संस्कृति-भाषा-प्रसार मत्स्य सीमाओं में ही कैसे फिट हुआ—वह न अधिक बढ़ सका न कम रहा और, एक स्थान में घटित होनेवाला यह चमत्कार जब दूसरे जनपदीय खंडों में भी घटित होता हुआ दिखाई देता है तो उसमें एक नियम का रूप ग्रहण करने का सा चमत्कार भी देखने को मिलता है। क्या ऐसा समझना चाहिए कि प्रारम्भिक दिनों में जो राजपूत राजपूताना के छोटे-छोटे टुकड़ों में आत्मरक्षा की विकलता को लेकर आ बसे थे वे अपनी विकलता के साथ-साथ राजपूताना के मानचित्र में किसी प्राचीन जानपदिक भू-विभाग की भाषा-संस्कृति को फलीभूत करने के किसी उत्कट व्यवसाय को भी ले आए थे। तब अवश्य ही इन टुकड़ियों में बसनेवालों ने जानपदिक संस्कृति-विभाग के सम्बन्ध में आपस में, बसते-बसते ही, कोई समझौता भी कर लिया होगा।

अस्तु। चमत्कारों की इस अकांड कल्पना को अलग रख कर हमें अपने उदाहरण की ही ओर पुनः लौटना

तक आधुनिक जनपद्वाद का महत्व सचमुच ही क्या यह कहने से कुछ अधिक है कि जहाँ पहले मत्स्यदेश था वहाँ आजकल मनुष्य रहते हैं और वे आपस में बातचीत करते हैं ?

तथापि, क्षणभरको यह मानते हुए भी कि किसी प्राचीन युग के जनपद-विभाग और आजकल के बोली-विभाग में कोई सारूप्य सम्बन्ध है, जनपद्वादियों का युक्ति-वैरूप्य समझ में आना कठिन है। इस बोली-जनपद-सम्बन्ध के आन्दोलन का क्या यह अभिप्राय है कि पुराने जनपद ही अब पुनः क़ायम हो जाने चाहिएँ? अथवा यह कि, जनपद न सही; परन्तु जानपदिक भाषाएँ तो होनी ही चाहिएँ ? अच्छा, जनपदों के बिना ही जानपदिक भाषाओं को भी मान लीजिए। परन्तु इस तर्क से यह कैसे सिद्ध होगा कि—उदाहरण के लिए—चूँकि पहले कभी 'मत्स्य' 'मरु' आदि नाम के जनपद थे इसलिए आज 'राजस्थान' नाम का जनपद है और चूँकि पुराने मत्स्य, मरु आदि के मौजूदा भू-भागों में आज जयपुरी, मेवाती, मारवाड़ी आदि बोलियाँ बोली जाती हैं इसलिए राजस्थान-जनपद में कोई 'राजस्थानी' भाषा है। राजस्थान और राजस्थानी भाषा के तर्क द्वारा क्या बोली-जनपद-वाला

तर्क स्वतः ही परस्पर-विरोध से छिन्न-भिन्न नहीं हो जाता ?

राजस्थानी के ही उदाहरण को सामने रखते हुए यहाँ एक बात और भी देखी जा सकती है। जिस मध्य-कालीन साहित्य के आधार पर राजस्थानी भाषा की सिद्धि की जाती है उसकी भाषा क्या राजस्थान की ही भाषा है? राजस्थान में बसनेवाले क्षत्रिय मध्यदेश से आए थे और वे अपने साथ अपनी भाषा को भी लाए थे। उनकी उसी भाषा का, स्थान-परिवर्तन आदि की कुछ विकृतियों को साथ लेते हुए, राजस्थान में प्रसार और प्रचार हुआ होगा। अतः इस राजस्थानी-साहित्य की भाषा का पूर्वरूप मध्यदेश की अपभ्रंश भाषा का ही औत्तरकालिक रूप नहीं है क्या?

जनपदवाद के उद्देश की पिशुनता एक बात में और भी देखी जा सकती है। जनपदवाद का आधार तो कुछ विद्वानों का सुझाया हुआ बोली-जनपद-सम्बन्ध ही है। परन्तु जनपदवादी इस सुझाव के अर्द्ध-सत्य को ही कुछ विकृत करके ग्रहण करते हैं। जहाँ वे इस बात को आग्रह के साथ दोहराते हैं कि अलग-अलग जनपद थे और अलग-अलग बोलियाँ हैं वहाँ वे इस बात पर ध्यान नहीं देना चाहते कि सुझाव देनेवाले